अंक- 05+06 त्रैमासिक

अंबरमणि

संयुक्तांक

नवम्बर २०२५ से जनवरी २०२६
(अग्रहण+पौष+माघ - २०८२-८३)

संरक्षक
श्री श्री 108 करपात्री अग्निहोत्री परमहंस
महर्षि चिदात्मनजी महाराज
परामर्शदाता
श्री रवीन्द्र जी ब्रह्मचारी, सुरेन्द्र कुमार चौधरी,
श्री दिनेशानन्द जी,
शुलभ कुमार सिंह (शुलभा नन्द जी)
एवं श्री राजकिशोर सिंह अधिवक्ता
श्री सदुर्शन सिंह (सहरसा)
डॉ जयनन्दन पाण्डेय (राजगीर)
श्री हरिनाथ मिश्र (बरौनी)
प्रधान सम्पादक
डॉ० घनश्याम झा
सम्पादक
प्रो० अवधेश कुमार झा
संयुक्त संपादक
सुधीर कुमार चौधरी (सत्यानन्द जी)
प्रबंध संपादक
प्रो० प्रवीण कुमार झा 'प्रेम'

प्रकाशन व संपादन पूर्णतः
अव्यावसायिक एवं अवैतनिक है।
मो०- 9006505559, 9910228194
7903675756
प्रधान कार्यालयः
सर्वमंगला अध्यात्म योग विद्यापीठ
सिद्धाश्रम, माँ कालीधाम गंगातट, सिमरियाधाम
(बेगूसराय), बिहार

जब तक संस्कृत में चिंतन, संस्कृति में आचरण और संस्कारों में जीवन रहेगा-तब तक भारत केवल जीवित नहीं, जाग्रत रहेगा।

संस्कृत केवल पूजा की भाषा नहीं,
बल्कि जीवन की भाषा है।
संस्कृति बाहरी आडंबर नहीं,
बल्कि आंतरिक अनुशासन है।
संस्कार केवल परंपरा नहीं,
बल्कि राष्ट्र-निर्माण की आधारशिला हैं।

सहयोग राशिः- 50/-

सम्पादकीय

नव वर्ष का मंगल संदेश!

यह सृष्टि, माता जगदंबा की रंग स्थली। यह धरती, माता जगदंबा की आनंद स्थली। अनंतानंत करुणामयी माता की इच्छा हुई, ''एकोऽहम् बहुश्याम:''। परांबा जगदंबा ने सृष्टि का सृजन किया। भगवान ब्रह्मा विष्णु और शिव का आविर्भाव हुआ। भगवती लक्ष्मी, सरस्वती और काली का आविर्भाव हुआ। सूर्य और चंद्रमा के प्रकाश से भगवती ने जग को जगमग कर दिया। भगवती ने धरती को सजा दिया। एक से एक सुंदर फलों के वृक्षों का प्रादुर्भाव हुआ। सुंदर-सुंदर पर्वत प्रकट हुए। मलयानिल से समस्त वातावरण सुरभित हो उठे। एक से एक सुंदर झरनों से अमृत की धारा निकलने लगी। अमृत मयी नदियों का प्राकट्य हुआ। अमृत सरोवर के समान समुद्रो का निर्माण हुआ। सुंदर-सुंदर कामधेनु गायों का सृजन हुआ। भगवती की कृपा से अपने मानवीय पुत्रों का सृजन प्रारंभ हुआ। आनंद धाम रूपी धरती पर आनंदमयी सृष्टि आनंदित हो उठी। अपने मानव पुत्रों को आहार के लिए भगवती ने माता के दुग्ध की पूर्व व्यवस्था कर रखी थी। बड़े होने पर भोजन के लिए माता ने फल और दुग्ध की व्यवस्था पूर्व से ही कर रखी थी। सभी आनंद धाम रूपी धरती पर परमानंद के साथ विचरण करने लगे। शस्य श्यामलाम् धरती, सुजलाम सुफलाम और मलयज शीतलाम् से पुलकित हो रही थी। समस्त मानव सृष्टि फुल्ल कुसुमित संयुक्त द्रुम दल शोभिनिम् हो रही थी। संपूर्ण सृष्टि में भगवती का लीला विलास हो रहा था। संपूर्ण मानव सृष्टि भगवती का दर्शन कर आनंद मग्न हो रही थी। भगवती ने अपने मानव पुत्रों को सांस लेने के लिए नि:शुल्क प्राण वायु प्रचुरता से उपलब्ध करा रखे थे। दिन रात के प्रकाश के लिए सूर्य और चंद्र के प्रकाश की नि:शुल्क व्यवस्था कर रखी थी। सबसे श्यामला धरती से, धरती माता नि:शुल्क अन्न प्रकट कर रही थी। अमृत के

समान फल, दूध और जल सर्वत्र उपलब्ध थे। कहीं किसी प्रकार का कोई अभाव नहीं था। संपूर्ण धरती अयोध्या, वृंदावन और काशी की शोभा से शोभायमान हो रही थी। भगवान श्री कृष्ण की मधुर वंशी तान से वातावरण प्रफुल्लित हो रहा था। भगवती द्वारा की गई मानव सृष्टि पराम्बा जगदंबा के आनंद में गोद में विकसित प्रफुल्लित हो रही थी। सूर्योदय और चंद्रोदय से समय की गति अवाध गति से प्रवाहित हो रही थी। सारी सृष्टि और सारी धरती आनंद धाम बनी हुई थी। घर घर में राम और कृष्ण, लक्ष्मी और पार्वती का अवतरण हो रहा था। सभी दिन रात आनंद से मग्न रहा करते थे। कहीं किसी प्रकार का कोई अभाव नहीं था। प्रेम और भाईचारे से धरती सराबोर हो रही थी। धरती सोना उगल रही थी। समुद्र रत्नाकर बने हुए थे। रत्नजटित महल बनने लगे। सभी के घरों के दरवाजों पर रंग-बिरंगे अन्न, सोने चांदी, हीरे मोती, माणिक पन्ने, रत्नो की ढेर लगी हुई थी। घरों में दरवाजे नहीं हुआ करते थे। हर जगह प्रेम का साम्राज्य ही था। हर दिन नया सूरज, आनंद प्रेम और सुख समृद्धि की बारिश कर रहा था। आज फिर लाल लाल नये सूर्य के उदय के साथ आंग्ल नव वर्ष का आविर्भाव हो रहा है। माता सर्वमंगला की गोद में हम सभी आज भी बैठे हुए हैं। माता पूछ रही है, बेटा! सर्व मंगल तो है ना? माता की गोद में और, परमहंस कर पात्री, अग्निहोत्री, ब्रह्मर्षि जगतगुरु स्वामी चिदात्मन जी महाराज के मंगल आशीष के तले हम सभी प्रफुल्लित हैं। समाचार पत्रों में हिंसा और आतंकवाद की खबरों से हम मौन हैं! आखिर मानव सृष्टि को हुआ क्या है? धरती आज भी अपनी पावन गोद अपने मानवीय पुत्रों के लिए नि:शुल्क उपलब्ध करा रही है। ध रती से अमृत में जल आज भी नि:शुल्क प्रकट हो रहा है। माता गंगा की निर्मल धार आज भी प्रवाहित हो रही है। धरती से अन्न के दाने, माता धरती के द्वारा बिना शुल्क के आज भी प्रकट हो रहे हैं। आकाश से सूर्य और चंद्रमा के प्रकाश आज भी नि:शुल्क उपलब्ध हो रहे हैं। माता सर्वमंगला की आनंदमयी गोद आज भी उपलब्ध है। वही धरती तो आज भी आनंद धाम है। फिर प्रेम और भाईचारा कहां गुम है? फिर यह आनंद धाम धरती किसी के लिए, क्यों बे काम है! इसीलिए कि मानव माता सर्वमंगला की जिस पावन गोद में बैठा हुआ है, उसी को भूल गया है! ब्रह्मर्षि जगद्गुरु परमहंस स्वामी चिदात्मन जी महाराज की वरद मुद्रा से अहर्निश नि:सृत हो रही प्रेम की धारा से विमुख हो रहा है! परमानंद के इस मृदुल शीतल छाया में, हे जगत के प्राणियों फिर से आ जाओ! नए साल की नई नई हवा! नया सूरज तुझे पुकार रहा है! मंगल और आनंद का संदेश सुना रहा है! धरती वही है, सूरज वही है, पवन वही है। गगन वही है। प्रेम वही है। आनंद वही है। आनंद मयी धरती वही है। यह धरती आनंद धाम है। राम से बेराम होकर सारी दुनिया बेराम है! राम के निकट आजा! फिर आराम ही आराम है! यही परमहंस स्वामी चिदात्मन जी महाराज का आंग्ल नव वर्ष का मंगल संदेश है! धरती, कल भी आनंद धाम थी, और आज भी आनंद धाम है!

जय भारत! जय जगत! जय माता सर्वमंगला! जय ब्रह्मर्षि! जय स्वामी चिदात्मन! ❑

स्वप्न

एक आदमी ने एक स्वप्न देखा। जागने पर वह अपने ज्योतिषी के पास गया और उससे उसका अर्थ जानने की इच्छा प्रकट की।

भविष्यवक्ता ने कहा, ''यदि तु अपने जागृतिकाल के स्वप्नों की बात करो तो मैं उनका अर्थ बतलाऊँ। निद्राकाल के स्वप्नों तक न तो मेरी बुद्धि की पहुँच है और न तुम्हारी कल्पना की रसाई।''

संस्कृत, संस्कृति और संस्कार से ही भारत बनेगा विश्वगुरु

स्वामी चिदात्मन्
संस्थापक संरक्षक
सर्वमंगला अध्यात्म योग विद्यापीठ
सिद्धाश्रम, मां काली धाम
आदि कुंभ स्थली
सिमरिया धाम, बेगूसराय, बिहार।

संस्कृत, संस्कृति और संस्कार के द्वारा ही भारत, सदा से विश्व गुरु बना हुआ रहा है, और बना हुआ रहेगा। इसी के बल पर भारत प्राचीन काल में असीम समृद्धि को प्राप्त कर संपूर्ण विश्व को ज्ञान देता रहा है। कालांतर में अपनी अतिशय सरलता, पर दुख कातरता तथा विश्व बंधुत्व की पराकाष्ठा के कारण, बल पौरुष के बावजूद विधर्मियों और आक्रांताओं से निश्चिंत रहने से, भारतवर्ष लगभग एक हजार वर्षों से अपने समस्त गुणों के रहते हुए भी विदेशियों और विधर्मियों से पद दलित होता रहा। कितने वर्षों में समस्त आक्रांताओं ने भारत की महान देव भाषा संस्कृत, संस्कृति और संस्कार पर भीषण प्रहार कर, उसे समाप्त करने का ही प्रयास किया, ताकि भारतवर्ष, विश्व में किसी भी अन्य देश से अधिक उत्तम नहीं कहला सके। लेकिन महादेव भाषा संस्कृत भारत के महान संस्कृति और महान संस्कार भारतीय जनमानस के हृदय की इतनी गहराइयों में बसी हुई थी, जिसके बल पर भारत की रक्षा होती रही और भविष्य में भी होती रहेगी। इसीलिए, आज संस्कृत, संस्कृति और संस्कार की रक्षा परम आवश्यक हो गई है।

विश्व की आदि भाषा संस्कृत विश्व की आदिवासी संस्कृत मानव के ही भाषा नहीं बल्कि देव भाषा है। सृष्टि के आदि स्थली भारत भूमि में ही परमात्मा द्वारा सृष्टि के सृजन के साथ ही इस भाषा का भी सृजन किया गया। अनंतानंत ब्रह्मांड नायिका भगवती की इच्छा से त्रिवेद स्वरूपिणी माता की कृपा से भगवान शिव ने समस्त संसार के कल्याण के लिए अपने लास्य नृत्य के समय, देवभाषा संस्कृत का सृजन किया। इसे ही माहेश्वर सूत्र कहते हैं। माता आदि शक्ति और भगवान शिव की सदीच्छा से महर्षि पाणिनि ने इसका महाभाष्य किया। ब्रह्मांड नायिका परांबा भगवती और परमपिता परमेश्वर के द्वारा इसी देवभाषा में अपौरुषेय वेद प्रकट हुए। इस अपौरुषेय वेद में संसार के समस्त ज्ञान भंडार भरे हुए हैं। वेदों की व्याख्या में कितने ही महाभाष्य,भारतीय वांग्मय के 108 उपनिषद, 18 पुराण, ब्राह्मण, आरण्यक, श्रुति, स्मृति, रामायण, महाभारत आदि समस्त शास्त्र, पुराण इसी संस्कृत भाषा में अवस्थित हैं। भारत से बाहर जाकर निवास करने वाले ऑडियो की भाषा मूल भाषा संस्कृत ही रही। देश एवं वेश परिवर्तन, जलवायु परिवर्तन के कारण, संस्कृत भाषा ही कालांतर में परिवर्तित होकर विभिन्न भाषाएं बन गई। इसीलिए विश्व की समस्त भाषाओं में उपलब्ध ग्रंथों में संपूर्ण विश्व की जननी, विश्व की आदि भाषा, संस्कृत के शब्द आज भी उपलब्ध हैं। इसीलिए समस्त संसार के कल्याण के लिए संस्कृत भाषा का संरक्षण और संवर्धन आज परम आवश्यक हो गया है।

संस्कृति का निर्माण भाषा, विचार, व्यवहार और वेशभूषा से बनती है। इसी के सम्मिलित स्वरूप

का नाम संस्कृत है। भारत की भाषा संस्कृत है। देव भाषा संस्कृत का समस्त ज्ञान वेद में भरे हुए हैं। समस्त भारतीय शास्त्रों में भरे हुए हैं। इन्हीं समस्त शास्त्रों का ज्ञान भारतीय संस्कृति में लहरा रहा है। फलस्वरूप भारतीय संस्कृति, वैदिक संस्कृति है। वैदिक संस्कृति होने के कारण, भारतीय संस्कृति दैविक संस्कृति है। दैविक संस्कृति दुनिया को देना जानती है। इसीलिए भारत ने सारी दुनिया को अपना ज्ञान देकर सबों को समुन्नत बनाया। भारतीय संस्कृति, अक्षर को कल्पतरु और शब्द को ब्रह्म मानती है। इसीलिए भारतीय ऋषियों के शब्दों में कल्पतरु और परमब्रह्म का वास होने से उन्हें वाग्सिद्धि प्राप्त है। वैदिक शास्त्रों को तदनुरूप धारण और आचरण में उतारने से हर किसी को वाग्सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसके बल पर समस्त भारत वर्ष और भारतवासी आज भी सशक्त सबल और श्री संपन्न बन सकते हैं। वैदिक वाङ्मय एवं वैदिक ऋषियों से भरा भारतवर्ष, इसीलिए श्री संपदा से सदा परिपूर्ण रहा। जहां विश्व के अन्य देशों और उनकी संस्कृतियां बाजार और व्यापार को प्रश्रय देती है। वहीं भारतीय संस्कृति प्रेम और भाईचारे का संदेश देती है। विश्व बंधुत्व का संदेश देती है-

''अयं, निजः, परोवेति, गणना लघु चेतशाम्।
उदार चरितानाम् तु वसुधैव कुटुंबकम्।''

भारतीय संस्कृति, सारे संसार को अपना परिवार मानती है। अपना ही परिवार मानने और समझने के कारण ही, सदा से सबों को शरणागति और संरक्षण देती रही है। भले ही सबों ने भारत को, उसकी समस्त धन संपदा को,और भारत की संस्कृति को लूटा, खसोटा, बर्बाद कर नेस्तनाबूद कर दिया। बावजूद आज भी भारतीय संस्कृति, समस्त संसार को अपना परिवार

''वसुधैव कुटुंबकम्''

ही समझ रही है। भारत के अक्षर अक्षर, शब्द शब्द,मिट्टी के कण कण में परम पिता परमात्मा और अनादि अनंत परांबा भगवती का निवास है। संसार के कण-कण में वह परमात्मा तत्व का ही साक्षात्कार करता है। इसीलिए भारत के महान शास्त्रों में भगवान शंखनाद करते हुए उद्घोष करते हैं,

''वृक्षाणाम् अश्वत्थो वृक्षः,
ऋतुणाम् मर्गाशीर्षोहम।''

वृक्षों में, मैं पीपल का वृक्ष हूं। ऋतुओं में अग्रहण मास हूं। नदियों में गंगा हूं। पर्वतों में हिमालय हूं। अर्थात कण-कण में भगवान का ही निवास है।

''इतनी ममता नदियों से भी, जहां माता कहकर बुलाते हैं।
इतना आदर इंसान तो क्या? पत्थर भी पूजे जाते हैं।''

महान वैज्ञानिक भारतीय संस्कृति में वर्ण, आश्रम धर्म के अनुसार कोई भेदभाव और ऊँच-नीच का भाव नहीं है, सभी के साथ, सभी का परम प्रेम मय अन्योन्याश्रय संबंध है।

यजुर्वेदीय रुद्राष्टकम् में सभी ''तक्षकेभ्यो नमः'' ''कर्मकारेभ्यो नमः'' तक्षकों को, सभी कर्म कारों को, सभी कुंभकारों को,सभी चर्मकारों को,सभी निषादों को, सभी चोरों, सभी चाण्डालों में भी, भगवान रूद्र रूप में नमन किया गया है।

यही भारतीय संस्कृति है, जो सारे संसार को मानवता का संदेश देती है। संसार के हर मानव को, व्यभिचारी और आतंकवादी नहीं, हर मानव को, मानव बनाना चाहती है। मानव को महामानव बनाना चाहती है। हर इंसान को भगवान बनाना चाहती है। हर इंसान को अपने इस समुन्नत संस्कृति से, सर्वगुण संपन्न बना देना चाहती है। भारतीय संस्कृति के हर आचार और व्यवहार में, संसार और मानवता के कल्याण से भरा विज्ञान भरा हुआ है। कोई भारतवासी जब माथे पर तिलक सुशोभित कर, सर पर पाग, शरीर पर यज्ञोपवीत के साथ धोती, कुर्ता और पैर में उपानह धारण करता हुआ वैदिक मंत्रोच्चारण करता है, तो वह साक्षात देवता प्रतीत होता है। उसकी वाणी से लेकर शरीर के हर अंग से विज्ञान निःसृत होता रहता है। वह

''सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय''
की भावना से प्रेरित होता हुआ,
''ईशावास्य इदं सर्वं, यत्किंच जगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा,मा गृद्धः कस्विद्धनम्।''
''सियाराम मय, सब जग जानी।
करौं प्रणाम, जोरि युग पानी।।''

की प्रतिमूर्ति बनकर अखिल विश्व कल्याणकारी परमात्मा बन जाता है। ऐसे ही धरती, ऐसी ही जलवायु, और ऐसे ही मानवों को प्राप्त कर, धरती स्वर्ग से सुंदर बन जाती है। संपूर्ण संसार को ऐसा ही स्वर्ग से सुंदर बनाना, भारतीय संस्कृति की कामना, शुभकामना और मंगल कामना रही है।

संस्कार

''सम् करोति इति संस्कारः।''

जो जीव को समुन्नत कर, शिव बना दे, उसे संस्कार कहते हैं। भारतीय संस्कृति के ऋषियों ने अनेक संस्कारों का वर्णन किया है, जो हर इंसान के लिए कल्याणकारी है। भारतीय ऋषियों के द्वारा अपने ग्रंथों में कहीं 55 संस्कार, कहीं 48 संस्कार, कहीं 25 संस्कार तो कहीं 16 तो कहीं कम से कम दशविध् संस्कारों का वर्णन है। भारतीय वैदिक वाङ्मय में वर्णित इन संस्कारों में परिपूर्ण रूप से विज्ञान भरा हुआ है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत तक, यह समस्त संस्कार, जीव को परम शिव अवस्था को प्राप्त कराने में परम सहायक हैं। इन समस्त संस्कारों में विज्ञान भरा हुआ होने से, हर मानव के लिए ये सारे संस्कार, अत्यंत कल्याणकारी हैं। वैदिक वाङ्मय में वर्णित इन संस्कारों को वैदिक विधि विधान से जीवन में अनुपालन करने से व्यक्ति परम वैभवशाली बन जाता है। इसीलिए हमारे भारत के महान वैज्ञानिक ऋषियों ने इन संस्कारों को जीवन में महत्व दिया है।

इन समस्त संस्कारों के वर्णन में अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया गया है। यहां हम कुछ ही संस्कारों के संबंध में किंचित मात्र ही चर्चा करें-

यज्ञोपवीत संस्कार

यज्ञोपवीत संस्कार में यह विज्ञान भरा हुआ है कि, कपास के सूत्र में ब्रह्मा विष्णु महेश सहित, सूर्य और गायत्री की महाशक्ति के साथ समस्त ग्रह नक्षत्रों की शक्ति को संघनित कर, शरीर पर धारण किया जाता है, विभिन्न अवस्थाओं और शारीरिक क्रियाओं में, इसे शरीर के विभिन्न अवयवों पर लपेटने से, शरीर की शक्तियों का विकास होने के साथ ही सुरक्षा मिलती है।

विवाह संस्कार एवं गर्भाधान संस्कार

भारतीय वांग्मय एवं संस्कृति में, विवाह मात्र स्त्री और पुरूष के प्रेम और आदर के साथ दो शरीर का मिलन ही नहीं, बल्कि दो आत्माओं के मिलन की वह वैज्ञानिक संस्कार की ऐसी वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा मनुष्य के शरीर को सशक्त और सुरक्षित करते हुए ईश्वर को मानव शरीर के द्वारा धराधाम पर अवतरित कराकर साक्षात्कार कराने की महान वैज्ञानिक प्रक्रिया है। भारतीय संस्कृति में ''पुत्रार्थे क्रियते भार्या'', भार्या का वरण, भोग के लिए नहीं, बल्कि संसार कल्याण के लिए सर्वगुण संपन्न ईश्वरीय पुत्र प्राप्ति के लिए किया जाता है। किस प्रकार के वर का, किस प्रकार की कन्या के साथ ,मूल गोत्र के अनुसार सवर्ण अनुलोम विवाह संपन्न कराया जाये, ताकि सर्वगुण संपन्न ईश्वरीय संतान की प्राप्ति हो, यही विवाह संस्कार और गर्भाधान संस्कार का लक्ष्य है।

जब कोई पतिव्रता कन्या, अपने से सर्वगुण संपन्न वर अर्थात् पति में, परमेश्वर का दर्शन करती है, और परम तपस्वी तथा चरित्रवान, भगवद्भक्त वर के द्वारा अपनी पत्नी में भगवती का दर्शन करते हुए परस्पर ईश्वर के समान संतान की कामना से, वैदिक रीति से गर्भाधान संस्कार संपन्न किया जाता है, तो उस दंपति की पावन गोद में ईश्वर के समान ही संतान का आविर्भाव होता है, जो समस्त परिवार, समाज और संसार के लिए परम मंगलकारी होता है। जब समस्त समाज और देश में हर परिवार में ऐसे ही ईश्वर के अवतारी संतानों का आविर्भाव होने लगता है, तो सारी धरती स्वर्ग से सुंदर बन जाती है। यही भारतीय संस्कृति में वर्णित परम वैज्ञानिक और सर्व कल्याणकारी संस्कारों का पावन उद्देश्य है, जिसे जीवन में धारण करने से मानव जीवन सार्थक, समुन्नत और महान बन जाता है। यही भारतीय सनातन धर्म का एकमात्र लक्ष्य है। यही संस्कृत, संस्कृति और परम वैज्ञानिक मंगलकारी संस्कारों का महत्व है। इस अवस्था के लिए कहा गया है;

जहां हर बाग है नंदन, जहां हर पेड़ है चंदन।
जहां देवत्व भी करता, मनुज के पुत्र का वंदन।।

समस्त संसार के प्राणियों के प्रति, यही हमारी शुभकामनाएं और मंगल कामना है। सर्वे भवंतु सुखिनः, सर्वे संतु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्ति, मा कश्चित् दुख् भाग भवेत्।।

भारतवर्ष की आत्मा को यदि किसी एक सूत्र में बाँधा जाए, तो वह सूत्र है-संस्कृत, संस्कृति और संस्कार। ये तीनों शब्द केवल भाषिक या सामाजिक अवधारणाएँ नहीं हैं, बल्कि भारतीय जीवन-दर्शन के मूल आधार हैं। संस्कृत वह भाषा है जिसमें भारत की आध्यात्मिक चेतना ने स्वर पाया; संस्कृति वह जीवन-पद्धति है जिसने इस चेतना को समाज में रूप दिया; और संस्कार वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति इस चेतना को आत्मसात करता है। इन तीनों की समन्वित धारा से ही भारतीय सभ्यता सहस्राब्दियों से जीवंत बनी हुई है।

संस्कृतः देववाणी और ज्ञान की आधारशिला

संस्कृत को भारतीय परंपरा में ''देववाणी'' कहा गया है। यह केवल एक भाषा नहीं, बल्कि ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, योग, आयुर्वेद और अध्यात्म की संवाहिका है। वेदों से लेकर उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों और दर्शन-ग्रंथों तक-सभी का मूल आधार संस्कृत है।

ऋग्वेद में वाणी की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है-

''वाचं मे ब्राह्मणो ददातु'' (ऋग्वेद 10.125)

अर्थात्-ब्रह्मज्ञान से युक्त वाणी ही मानव को श्रेष्ठ बनाती है।

यह संस्कृति व्यक्ति को संकीर्ण स्वार्थ से ऊपर उठाकर समष्टि-कल्याण की ओर ले जाती है।

संस्कारः व्यक्ति निर्माण की आध्यात्मिक प्रक्रिया है।

संस्कार भारतीय जीवन का मेरुदंड हैं। जन्म से मृत्यु तक सोलह संस्कारों की परंपरा व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रूप से परिष्कृत करती है। संस्कार केवल कर्मकांड नहीं, बल्कि चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया हैं। मनुस्मृति में कहा गया है-

''संस्कारो हि गुणान्तराधानम्''

अर्थात्-संस्कारों से ही गुणों का आरोपण होता है।

उपनिषदों में भी स्पष्ट निर्देश है-

''सत्यं वद, धर्मं चर'' (तैत्तिरीय उपनिषद)

सत्य और धर्म के आचरण से ही श्रेष्ठ मनुष्य का निर्माण होता है।

संस्कृत की वैज्ञानिकता, उसकी ध्वन्यात्मक शुद्धता और अर्थगंभीरता उसे विश्व की अद्वितीय भाषा बनाती है। यही कारण है कि पाणिनि का व्याकरण आज भी भाषाविज्ञान का आधार माना जाता है।

संस्कृतिः जीवन को साधना बनाने की कला संस्कृति शब्द ''कृ'' धातु से बना है, जिसका अर्थ है-संस्कार करना, परिष्कृत करना। संस्कृति जीवन को शुद्ध, संतुलित और सार्थक बनाने की प्रक्रिया है। भारतीय संस्कृति भोग नहीं, योग की संस्कृति है; अधिकार नहीं, कर्तव्य की संस्कृति है; और संग्रह नहीं, समर्पण की संस्कृति है।

यजुर्वेद में स्पष्ट कहा गया है- ''कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'' (यजुर्वेद 20.9)

अर्थात् संपूर्ण विश्व को श्रेष्ठ बनाओ।

भारतीय संस्कृति का मूल संदेश है-वसुधैव कुटुम्बकम्। महोपनिषद में कहा गया है-

''अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।'' उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।''

वेद-उपनिषद-पुराणः त्रिकालदर्शी ज्ञान-परंपरा

वेद ज्ञान के बीज हैं, उपनिषद उस ज्ञान का दर्शन हैं और पुराण उस दर्शन का लोकमंगलकारी विस्तार। पुराणों ने गूढ़ वैदिक सिद्धांतों को कथा, चरित्र और आदर्श के रूप में समाज तक पहुँचाया।

भागवत पुराण में कहा गया है- ''धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र''

अर्थात्-यहाँ छलरहित, शुद्ध धर्म की प्रतिष्ठा की गई है।

यह धर्म ही संस्कृति और संस्कारों का आधार बनता है। ❑

शोध-निबंध

स्वामी चिदात्मन् जी की दृष्टि में
बागमती ही सरस्वती नदी है।

डॉ0 विजय कुमार झा, निदेशक
महर्षि चिदात्मन् वेद विज्ञान
अनुसंधान व्यास

विश्व की प्रत्येक सभ्यता व संस्कृति नदी के किनारे ही फली-फूली है। उनकी कृषि, पशुधन, बस्तियाँ, धार्मिक अनुष्ठान आदि सब कुछ नदियों की धार एवं उसकी उपत्यका पर ही निर्भर था। खासकर भारत में तो सभी प्रधान ग्रंथ-वेद, उपनिषद, ब्राह्मण, आरण्यक, दर्शन आदि सरस्वती नदी व अन्य नदियों के क्षेत्र में ही रचे गए। पूज्य स्वामी जी का मानना है कि ''भारत भूमि की ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं को इस हद तक नदियों ने प्रभावित किया कि मानव की आत्मा, मन और शरीर आज तक गौरवान्वित हो रहा है। गंगा तो भारत की जीवन रेखा है और इनकी सहायक नदियाँ उस जीवन रेखा की ऊर्जा है। गंगा से पूर्व भी भारत की एक महान नदी 'सरस्वती' भारतीय आत्मा को प्रकाशित कर रही थी। यद्यपि इन दोनों नदियों का उद्भव व विकास हिमालय से ही हुआ। गंगा तो आज भी अपनी मौज मे पूर्ण वेग से प्रवाहित हो रही है लेकिन सरस्वती विलुप्त हो चुकी है। ऐसा कहा जाता है कि वह आज भी राजस्थान के 'थार' रेगिस्तान में भूमिगत होकर वह रही है। ऋग्वेद में वर्णित सरस्वती नदी को कोई अफगानिस्तान में बहने वाली 'हरक्वैती' नदी मानता है तो कुछ विद्वान सिंधु को ही सरस्वती मानते हैं। परन्तु अधिक अनुसंधानकर्त्ता तथा आधुनिक विद्वान आज एक मत से कहते हैं कि यह हिमालय के रूपण ग्लेशियर या आदि बद्री के माणा गांव के पास से निकल कर अलकनंदा नदी में मिल जाती है और इस तरह प्राचीन सरस्वती नदी के रूप में हिमालय से निकलकर हिमालय में ही लुप्त हो जाती हैं।''

पूज्य स्वामी जी का मानना है कि सरस्वती का क्षेत्र मिथिला व मगध भी था। एक तथ्य यह भी है कि मिथिला राज्य की स्थापना निमि के पुत्र विदेह माधव (मिथि) ने की थी। मिथिला का यह भू-भाग समुद्रतटीय प्रदेश था जो जलप्लावित था। विदेह माधव के पुरोहित रहुगण गौतम ने अपनी उपासना के माध्यम से इस भू-भाग को संस्कारित कर मानव के बसने योग्य बनाया। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार विदेह माधव अपने मुख में वैश्वानर अग्नि को धारण कर रखा था। अपने पुरोहित रहुगण के साथ विदेह माधव जब हिमालय के दक्षिणी भाग में भ्रमण पर निकले तो पुरोहित रहुगण गौतम के द्वारा विदेह माध व आहूत किये गए तो उन्होंने गौतम को कुछ उत्तर नहीं दिया क्योंकि उसने सोचा कि यदि मैं उत्तर दूँ तो मेरे मुख में यह वैश्वानर प्रज्वलित हो जायेगा। तब गौतम ने ''वीति होत्रत्वा'' (श०ब्रा० 2-4) इस मंत्र के द्वारा अग्नि की स्तुति की, फिर अन्य मंत्रों के द्वारा भी स्तुति की, किन्तु विदेह माधव ने अपना मुख नहीं खोला। इसके बाद रहु गौतम ने ऋग्वेद के मंत्र ''तन्वा धृतस्रवीमहे'' मंत्र का उच्चारण किया। इस मंत्र के उच्चारित होते ही विदेह माधव के मुख से अग्नि प्रज्जवलित होकर बाहर निकला। उस समय विदेह माधव अपने ताप शमन के लिए सरस्वती नदी में प्रवेश कर गए और वह वैश्वानर अग्नि वहाँ से पूरब भू-भाग को व्याप्त कर लिया। अत: यह स्पष्ट है कि मिथिला की उत्तरी पश्चिमी सीमा पर निश्चित रूप

से सरस्वती का प्रवाह था। केवल उस समय सदानीरा नदी बच गई और केवल सदानीरा नदी कौशल प्रान्त और विदेह प्रान्त (मिथिला) का सीमा क्षेत्र बना रहा। निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि रामकथा की घटनाऐं मूलतः सरस्वती क्षेत्र की ही घटनाऐं थी जिन्हें बाद में नई पृष्ट भूमि के हिसाब से लिखा गया होगा। सरस्वती नदी द्वारा बार-बार मार्ग बदलने या भू-गर्भीय परिवर्त्तन के कारण समूचा नदी तंत्र व्यवस्था ही गड़-बड़ा गयी होगी। ऐसी भी संभावना बनती है कि सरस्वती क्षेत्र से जन-ग्राम का पलायन नदियों के मार्ग बदलने के कारण भी हुआ होगा। ऐसी भी मान्यता है कि महाराज शान्तनु के काल में सरस्वती क्षेत्र में बारह वर्ष का अकाल पड़ा और इस अकाल के कारण ही इक्ष्वाकुओं का पलायन अवध के क्षेत्र से मिथिला की तरफ सरस्वती नदी के किनारे-किनारे चलकर हुआ होगा। इस बात की चर्चा 'महाभारत पुराण' मे की गई है।

हिमालय की मूलतः तीन ऋंखलाएँ है:- सबसे ऊपर वाला भाग मुख्य हिमालय या उच्च हिमालय कहलाता है। उससे थोड़ा नीचे के भाग को मध्य हिमालय या लघु हिमालय कहते हैं और सबसे नीचे शिवालिक की पहाड़ी है। नेपाल में भी हिमालय की तीन ऋंखलाएँ हैं, जिनके नाम है- हिमाल, महाभारत और चूरे। बागमती की उत्पत्ति के सन्दर्भ में पुराणों का इशारा इन्हीं तीन ऋंखलाओं की ओर है। बागमती का उद्गम स्थान नेपाल की राजधानी काठमांडु के पूर्वोत्तर कोण में हिमालय के गोसाईंनाथ उच्च शिखर के दक्षिणी ढ़लान पर है। इस शिखर की ऊँचाई समुद्रतल से 26305 फीट हैं। जो उच्च हिमालय या हिमालय का क्षेत्र है। वाराह पुराण के अनुसार 'बागमती' के उद्गम स्थान के पूवोर्त्तर भाग में 'गौरीशिखर' तीर्थ हैं और शिखर के दक्षिणी भाग से 'बागमती' एक कंदरा से प्रवाहित होती है:-

दक्षिणेन तु वाङ्मात्या प्रसृंत कन्दरोदरात (वा०पु० अध्याय 215, श्लोक-105)

शिवपुरी से प्रवाहित होकर बागमती पहले अग्निकोण में चलती है और पूर्वोत्तर भाग के दूसरे स्रोत को ग्रहण कर जब और आगे आती है तब पश्चिमोत्तर कोण से आनेवाला स्रोत भी इसमें मिल जाता है। इन तीनों स्रोतों के मिल जाने क बाद ही 'बागमती' दक्षिण-पूर्व दिशा की ओर बहने लगती है। महाभारत के सभा पर्व (अ० 20, श्लोक 28) में मिथिला की 'विपुला' नदी की चर्चा है, जिसमें श्रीकृष्ण के साथ अर्जुन और भीम के गिरिव्रज जाने का उल्लेख है। चूँकि महाभारत काल में सरस्वती मिथिला और कौशल की सीमारेखा थी। पुनः महाभारत के सभापर्व में ही जिस 'वारवत्या नदी' का उल्लेख किया गया है वह बेगवती या बागमती हो।' क्योंकि वारवत्या' के नाम का स्मरण सरयू, लांगली, करतोया, आत्रेयी और लौहित्य के साथ किया गया है। आनंद रामायण में भी 'वारवत्या को 'वेगावती' ही कहा गया है। वाराह पुराण में इसका नाम 'बागमती' और 'बेगमती' दोनो लिखा है।

वेद में सरस्वती नदी को भी अत्यंत वेगवान कहा गया है। यह कभी न रूकनेवाली गरजती gbZpyrhgS^jks or pjfr *[2]। इतना ही नही ऋषि कहते हैं कि जो अपनी महिमा में तेजोमय हैं, जो नदियों में अधिक वेगवती हैं, जो रथ की भाँति प्रशस्त और गुणवती है, वह सरस्वती नदी ज्ञानियों के लिए स्तुत्य है[3]। सरस्वती की तरह ही 'बागमती' भी जब हिमालय से निकलती है तो यह बाघ की भाँति दहाड़ते (आवाज करते) हुए नीचे की ओर आती है, इसलिए इस नदी को 'व्याघ्रवती' भी कही जाती है। हिमालय से निकलने के बाद हनुमतौ, मनोहारा, गोदावरी, मजिवतो, धर्मवती, विष्णुवती, भद्रवती, इक्षमती आदि सरिताओं का संगम बनाकर काठमांडो घाटी के तमाम् जल-भंडारण को निचोड़कर 'बागमती' को भर देती

हैं। पूज्य स्वामी जी कहते हैं कि सत्य तो यह है कि ''पुण्यवती 'बागमती' की लहरों को देखकर लगता है कि लुप्त सरस्वती अपनी विरासत को इसके भरोसे छोड़कर लक्ष्मी (कमला) और काली (कोशी) में मिलकर अपनी विद्यमानता दर्शा रही है कि सरस्वती बह रही है 'बागमती' के रूप में, मिथिला की विरासत के रूप में-यह कहती है कि सप्तसिन्धु, सप्त गोदावरम्, सप्तगंडकी, सप्तकोशी, सप्तसरयू की तरह मैं भी 'सप्त बागमती हूँ।''

आनन्द रामायण की रचना 16वीं शताब्दी में हुई थी और उस समय 'वारवत्या' का नाम वेगावती था और आज वही 'बागमती' कहलाती है। बुद्ध साहित्य 'मज्झिम् निकाय' के 'वत्थु सुतंत' में वारवती तथा वेगावती को 'बाहुमती' कहा गया है। वाराहपुराण में बागमती के लिए वाङ्मती' और वेगवती' दोनों नामों का उल्लेख किया गया है और इसकी पवित्रता के सम्बन्ध में कहता है कि ''बागमती का जल भागीरथी के जल से सौ गुणा अधिक पवित्र है। इसके जल में स्नान करने वाला सीधे सूर्यलोक में स्थान पाता है:-

हिमाद्रेस्तुङ्ग- शिखरात प्रोदभूता वाङ्मती नदी।
भागीरथ्या: शतगुणं पवित्र तज्जलं स्मृतम्।
तत्र स्नात्वा हरे र्लोकानुपस्पृश्य दिवस्पते:।।

अत: स्वामी जी का मानना है कि मिथिला में प्रवाहित यह 'बागमती' आज सरस्वती ही हैं जो लुप्त नहीं हैं। भू-गर्भीय विचलन के कारण ही यह मिथिला में प्रवाहित हो रही हैं। स्वामी जी तो वास्तव 'मार्कण्डेय' है। नदी के साथ जीना व मरना तो किसी मार्कण्डेय के बस की बात हो सकती है। उसकी अनवरत परिक्रमा करना और इष्ट (सर्वमंगला) के स्थान पर नदी को प्रतिष्ठित कर हमेशा के लिए उसी का हो जाना। ऐसा लगता है उनका जीवन ही आराध्य नदी की पूजा के लिए ही है। किसी में भी ऐसा मृत्युंजय समर्पण और प्राणोत्सर्ग का भाव नहीं है। स्वमी जी के बिना सरस्वती अधूरी ही रह जायेगी। क्योंकि वागमती यानी 'वाक्' की देवी अर्थात सरस्वती। यह जीवन की बलिवेदी पर संकल्प का यज्ञ भाव था जिसमें जिस प्रकार प्रयाग में गंगा, यमुना व सरस्वती का संगम है, ठीक उसी प्रकार मिथिला में समस्तीपुर जिले 'जगमोहरा' गाँव के मुहाने पर कोशी (काली), कमला (लक्ष्मी) और बागमती के संगम को उजागर कर सरस्वती की महनीयता और विलुप्त सरस्वती को खोजकर समाज और राष्ट्र के समक्ष उजागर किया। कोटिश: नमन है ऐसे महायात्री और आज के मार्कण्डेय को। मेरा यह सौभाग्य है कि मैं उन जैसे मनीषी सर्जक के साथ बागमती रूपी सरस्वती की यात्रा पर दस दिन तक साथ रहा।

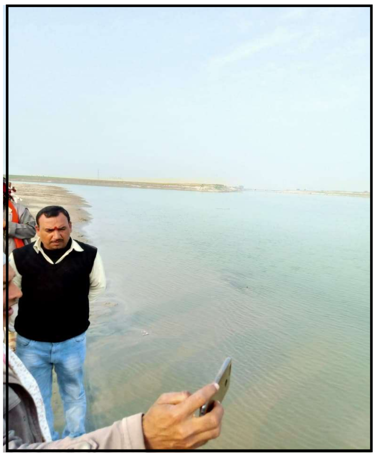

(बिहार का त्रिवेणी संगम, जगमोहरा, बिथान, समस्तीपुर)

बागमती का सरस्वती होना वैदिक काल के सभी गुण धर्मों से युक्त काली, लक्ष्मी व सरस्वती का ही प्रतिरूप होना हैं। लक्ष्मी व काली का अवतार कही गयी सीता दोनों के मूल में वागमती व सरस्वती ही हैं। जो काली (कोशी) लक्ष्मी (कमला) हें वही सीता हैं, व्याध्रमती हैं, व्याध्रमती ही अपभ्रंश में बागमती हो गई है। वाल्मिकी रामायण में सीता को पिछले जन्म में वेदवती होने का वर्णन आया है। वहाँ वह ऋषि राजा कुशध्वज (जनक के भाई) की पुत्री हैं। जो रावण द्वारा कुदृष्टि डालने पर अगले जन्म में उसे नष्ट कर देने का शाप देती हैं। वही वेदवती सीता के रूप में मिथिला में उत्पन्न होकर रावण के नाश का कारण बनी। यही वेदवती वैदेही जो हिमाल पर्वत से निकल कर व्याध्रमुखी या व्याध्रवती कहलाती हैं। ये सारी नदियाँ ही 'अधवारा समूह' की नदियाँ कहलाती हैं। आगे चलकर यही नदी 'बागमती' हो जाती है। इसी हिमालय का पूर्वी भाग था पर्वत था वैधुत, वैधूर्य या सौधुम्न पर्वत। आज मार्कण्डा नदी की एक सहायक नदी, तब इसी पर्वत से निकलने वाली वैधुली/वेदवती/सौधुम्नि अथवा सदानीरा नदी थी। यही वह नदी है जो आदि बद्री के समीप से निकल कर सधौरा होते हुए मारकण्डा में मिल जाती है। वाद में इसी वेदवती को वास्तविक सरस्वती माना गया है। ऐसी भी संभावना है कि कुछ समय के लिए सरस्वती नदी का उदगम आदि बद्री से होता होगा। लेकिन जब सीता सरस्वती रूप में जनक के राज से प्रवाहित होने लगी तो उसकी पुत्री भी कहलायी। सीता धरती की पुत्री भी हैं इसलिए इन्हें 'भूमिजा' भी कहा जाता है। जिस स्थान पर जनक को सीता भूमि से प्राप्त हुई उस स्थान पर एक बहुत बड़ा कुंड वन गया जो नदी के रूप में परिणत हो गया। यही नदी व्याध्रमती या व्याध्रमुखी कहलायी।

पौराणिक साहित्य में नदी को माता, पुत्री भी कहा गया है। किसी नदी के क्षेत्र में जन्म लेना नदी का माता होना माना गया है। जैसे दिवोदास की माता का नाम दृष्द्वती है। वागमती का सरस्वती होना तो शत प्रतिशत सत्य है। वाक् की देवी सरस्वती हैं जो मिथिला में 'वागमती' के नाम से प्रसिद्ध हैं। दूसरी बात यह है कि 'सीता' कृषि की अधिष्ठात्री देवी भी हैं। सीता की उत्पत्ती के साथ ही मिथिला का अकाल समाप्त हो गया और वेदमती, वागमती, व्याघ्रमती के रूप में मिथिला के भू-भाग को सींचने लगी। इस तरह सीता एवं कृषि की अधिष्ठात्री देवी दोनों का उद्गम एक ही है। सीता के नाम से वैदिक साहित्य मे सीता का प्रार्थना की गयी है। ऋग्वेद के सूक्त 4/57 में कृषि की अधिष्ठात्री देवी सीता वास्तविक देवता हैं, काल्पनिक देवता नहीं। अत: पूज्य स्वामी जी कहते हैं कि बागमती के साथ सीता का सम्बन्ध कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि जनक जी द्वारा हल संचालन के उपरान्त ही मिथिला के अकाल को समाप्त करने के लिए सीता की उत्पत्ति हुई और वेदों में भी कृषि सम्बन्धी अन्य देवताओं के साथ सीता का समन्वय कोई मनगढ़त बात नहीं है।'' थोड़ा इस सूक्त पर भी ध्यान दिया जाय-

''अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा।
यथा न: सुभगा ससि यथा न: सुफला ससि''
इन्द्र: सीतां निगृहष्तु तां पूषानुयच्छत,
सा न: पयस्वती दुह्ामुत्त रामुत्त्रा समाम्।।''[6]

उपरोक्त मंत्र में सिर्फ लाङ्गल पद्धति की मात्र स्तुती नहीं की गयी है। ऋग्वेद के ऋषि कहते है कि हे सुभगे! हमारे लिए अनुकूल हो जाओ। हे सीते! हम तुम्हारी वन्दना करते हैं जिससे प्रसन्न होकर तुम हमारे

लिए धन और फल देनेवाली होओ। इन्द्र सीता को ग्रहण करें, पूषा उसका संचालन करे, सीता उत्तरोत्तर हमें धन, धान्य फल आदि प्रदान करती रहें। पूज्य स्वामी जी कहते हैं कि वैदिक ऋषि की ऐसी प्रार्थना निर्जीव के लिए नहीं हो सकतीं निश्चित रूप से यह सृष्टि की चैतन्य देवी देवता के लिए हो सकती है। महर्षि सायन ने अथर्ववेद के मंत्र-

''घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरूद्भिः।

सा नः सीते पयसाभ्यायवृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना।''[7]

का भाष्य करते हुए लिखते हैं कि सीता घृत एवं मधु से सिक्त होती है। वह सीता सभी देवताओं एवं मरूतों से अंगीकृत होती हैं। हे सीते! उदक से मुक्त होकर घृत-युक्त अन्न का सिञ्चन करती हुई, बलवती होकर हमलोगों के अनुकूल वर्त्तमान रहो। पास्कल गृहय सूत्र में भी कहा गया है कृषि की अधिष्ठाात्री लक्ष्मी रूपी सीता का ही भाव निहित है।

कमला ही लक्ष्मी हैं और सीता भी। कमला का उद्गम स्थल भी नेपाल के महाभारत पर्वत से ही हुआ। कमला नदी की तीन प्राचीन धाराऐं हैं- (1) जीवछ कमला, (2) कमला बलान और तीसरी स्वतंत्र कमला है। कमला मिथिला की प्रसिद्ध नदी है और पुण्य की दृष्टि से गंगा के बाद मिथिला में इसी का स्थान है। यह कमला बागमती (सरस्वती) और कोशी के साथ समस्तीपुर जिले के जगमोहरा गाँव के पास त्रिवेणी का संगम बनाती है। पूज्य स्वामी चिदात्मन् जी महाराज ने इसी पवित्र संगम पर पंचदिवसीय यज्ञ दिनांक- 11/01/2019 से 15/01/2019 तक आयोजित कर इस स्थल को देवमय बना दिया।

बौद्धों ने भी सीता का स्मरण कृषि रूप में ही किया है। बौद्ध अभिधर्म महाविभाषा में लिखा है कि ''कृषक प्रचुरमात्रा में सस्य प्राप्त करने पर कहता है कि यह श्री, सीता और समा इन देवियों का वरदान है। वेद, उपनिषद, सूत्र रामायण तथा पुराणों के अनुसार महालक्ष्मी सीता के अनेक रूप हैं। सर्वाधि ष्ठात्री सीता कृषि की अधिष्ठाती होते हुए भी, शक्तिरूप में पूजित हैं।

सीता को जिस तरह सुभगा कहा गया है उसी तरह सरस्वती (बागमती) को भी वेद में बार-बार सुभगा कहा गया है। जिस तरह ऋग्वेद में सरस्वती को सात बहिनों वाली यानी सात नदियों को साथ लेकर चलने वाली कहा गया है उसी तरह बागमती को भी 'सप्त बागमती' कहा जाता है। जिस प्रकार वेद में सीता से अन्न, धन, दूध, घी आदि के लिए ऋषियों ने प्रार्थना की ठीक उसी प्रकार वेद में ''सरस्वती (बागमती) से ऋषियों ने प्रार्थना किया है कि ''सरस्वती कल्याणकारिणी हैं। वह हमारा कल्याण करे। सरल ढंग से बहने वाली और अन्न देने वाली सरस्वती हमें सावधान करें। खासकर सृष्टि का सम्पूर्ण रहस्य अपने अन्दर समेट कर सरस्वती विद्या की देवी बन गई इसी क्षेत्र में कृषकों की अधिष्ठात्री देवी सीता, इसी सरस्वती का एक रूप है ठीक इसी तरह बागमती नदी का देवीय स्त्री रूप लक्ष्मी है। ऋग्वेद के विवरणों से भी ऐसा ही लगता है कि सरस्वती (बागमती) का ही वर्त्तमान रूप लक्ष्मी (कमला) में है। क्योंकि आज भारत में यज्ञ-पूजा व अन्य छोटे-बड़े धार्मिक अनुष्ठानों में मन, वचन व कर्म से जो कामना मनुष्य देवी लक्ष्मी से करता है वैदिक काल में वही सारी कामनायें भी सरस्वती नदी से करता था। सत्य तो यह है कि सीता एक ओर जहाँ कृषि की अधिष्ठात्री देवी थी तो वही दूसरी ओर वेदमती (बागमती) होने के साथ मिथिला की पुत्री भी थी। वाक् (बुद्धि) की देवी यानी बागमती थी, धन की

देवी लक्ष्मी कमला रूप में तथा शक्ति की देवी काली रूप में कोशी थी– इन तीनों का संगम 'जगमोहरा' समस्तीपुर जिला मे है जो एक सम्पूर्ण शक्ति स्थल के रूप में स्वामी जी द्वारा चिन्हित किया गया है। पूर्व में आर्यो में लक्ष्मी की प्रधानता नहीं थी। लेकिन मिथिला में ही जब समुद्र मंथन से मिला वह क्षेत्र था– सा+अम्ता यानी सामृता (सिमरिया) बेगूसराय जिले का क्षेत्र। कहने का अभिप्राय है कि जिस प्रदेश में ऋग्वेद लिखा गया वह सरस्वती का क्षेत्र था, वेदमती का क्षेत्र था यानी सीता का। आर्य की आध्यात्मिक मानसिकता कुछ आगे बढ़ी तो उसने कमला (लक्ष्मी) को भी ढूंढ लिया और इस प्रकार नदी का देवीय रूप कायम हुआ। वही नदी वैदिक सभ्यता वाले मैदानी भाग के जनों के लिए सरस्वती (बागमती) बनी।

वैदिक कालिन लोगों की प्रारंभिक बस्तियाँ तो निश्चित रूप से सरस्वती नदी के किनारे ही बसी होगी और वहीं से जीवन की सारी गति–विधियाँ भी क्रियाशील हुई होगी और आगे चलकर सम्पूर्ण भारतीय भू–भाग में फैली, इसीलिए यह क्षेत्र सम्पूर्ण आर्यजनों के लिए महत्वपूर्ण था। मिथिला का यह क्षेत्र 'सागर' का था। इस सागर का नाम टेथिस सागर या क्षीरसागर था। महाभारत में सरस्वती को प्रथम नदी और सागरगामिनी कहा गया है।

''एषा सरस्वती पुण्या नदीनामुत्ता नदी।
प्रथमा सर्व सरितां नदी सागर गामिनी।।

वेदवती (बागमती) के तटों पर बसे आर्य जन वैदिक ही थे। इन तटीय आर्यो की साधना स्थली वेदवती (बागमती) के इर्द–गिर्द ही, बनी हुई थी। उस समय वेदमती (वगमती) से पुरानी गंडकी का समस्तीपुर रोसड़ा के पूरब तथा नरहन रेलवे स्टेशन और सिंघिया के पश्चिमोत्तर दिशा से दक्षिण की ओर आती हुई 'बागमती' की मुख्य धारा से संगम करती है। बूढ़ी, गंडक के किनारे ही अंगारघाट' अवस्थित है। यह मूलत: अंगिरा ऋषि की साधना स्थली है। यही बागमती के तट पर अंगिरा ऋषि ने अपनी साधना के बल पर वैदिक ऋचाओं का दर्शन किया। बागमती और कोशी के मिलन स्थल पर ही कात्यायन ऋषि का आश्रम था जो आज घमारा घाट के नाम से जाना जाता है। कहा जाता है कि ऋषि कात्यायना के यहाँ स्वयं जगत जननी जगदम्बा का अवतरण हुआ और उनकी पुत्री के रूप में कात्यायनी कहलायी। आज भी यह स्थान शक्तिपीठ के रूप में पूजित है। कोशी (कौशिकी) महर्षि विश्वामित्र की बहन है और महर्षि विश्वामित्र का आश्रम व तपस्यास्थल कोशी के तट पर ही था, जहाँ बागमती कोशी से संगम करती है। रामायण, महाभारत और अठारहों पुराणों में कोई ऐसा ग्रंथ नहीं है, जिसमें कौशिकी का यशोगान नहीं किया गया हो। ऋषि विश्वामित्र ने कौशिकी के तट पर जहाँ बागमती संगम करती थी एक सहस्त्र वर्ष तक कठोर तपस्या की:–

कौशिकी–तीरमासाद्य तपस्तेपे सुदारूणम्।
तस्य वर्ष सहस्त्राणी घोरं तप उपासते।।

बागमती और कौशिकी के संगम तट पर ही विश्वामित्र ने ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया।

सहरसा का जिला चम्पाकरण्य का क्षेत्र था, जहाँ 'वशिष्ठ' का आश्रम था, जिन्होंने विश्वामित्र को ब्रह्मणत्व प्रदान किया। चम्पकारण्य का यह क्षेत्र शक्ति का क्षेत्र था जो विदेह राज्य की सीमा में था। इसके बारे में कहा गया है कि– ''गण्डकी तीरमारभ्य चम्पारण्यान्तकं शिवे।

विदेह भू: समाख्याता तैरभुक्त्यमिघ: स तु।।[2]''

चम्पकारण्य क्षेत्र के पश्चिमोत्तर कोण में 'सरस्वती तीर्थ' है जिसके पूरब मे उस समय कोशी थी। कोशी के पश्चिमोत्तर कोण में आज भी सरस्वती 'बागमती' के रूप में प्रवाहित होकर कोशी से संगम भी करती है। अतः पूज्य स्वामी जी का यह मानना की 'बागमती' ही सरस्वती है, शत-प्रतिशत सत्य हैं। इतना ही नहीं, स्वामी जी का मानना है कि जिस कौशिकी के तट पर विश्वामित्र का आश्रम था, उसी के किनारे कश्यप ऋषि के वंशज 'काश्यप' (विभांडक) ऋषि का भी आश्रम था। उसी विभांडक ऋषि के पुत्र ऋषि 'ऋंग' थे जो बहुत बड़े तपस्वी थे जिनका आश्रय वर्त्तमान लखीसराय जिले 'ऋंगी' पर्वत पर था। 'स्वामी जी का मानना है कि 'लोमश ऋषि' का आश्रम भी इसी बागमती व कौशिकी के तट पर था। इतना ही नहीं पदम् पुराण के अनुसार नेपाल का भातगाँव ही 'भरताश्रम' है, क्योंकि नेपाल के भक्तपुर स्थान से एक हिमनद प्रवाहित होती है और लगभग वहां से 20 मील अग्निकोण तथा पूर्व दिशा में बहती हुई दुमजा नगर के पश्चिम में जनकपुर एवं बागमती-अंचलों की सीमा पर, सुनकोशी से संगम करती है।

स्वामी चिदात्मन् जी कहते हैं कि ''बागमती, कमला और कोशी की संगम स्थली सप्तऋषियों की साधना स्थली थी जो यहाँ से चलकर नालन्दा जिले के सप्तऋषि पर्वत को अपना साधना स्थली बनाया। पहाड़ पर मौजूद 'डगडगवा चट्टान' पर एक शिलालेख है जो सप्तऋषियों की तपोभूमि होने की पुष्टि करता है।'' मिथिला का यह क्षेत्र शाल्मली द्वीप भी कहलाता था, क्योंकि शाल्मली से ही सिमरिया व्युत्पन्न है। इस क्षेत्र में शाल्मली (सेमल) या शमी वृक्षों की बहुलता थी। इसी सिमरिया में समुद्र मंथन से 'अमृत' की प्राप्ती हुई थी। शाल्मली का और अर्थ होता है- विद्युत वैभ्राण (चमकीला) बिजली, सौद्युम्नी तथा सौद्युम्नी क्षेत्र की नदी वेदवती आज की बागमती नदी। सम्भवतः इन्हीं बागमती सरस्वती क्षेत्र का प्राचीन नाम 'ब्रह्मवैवर्त्त' हो क्योंकि उस काल में जम्बू, पलक्ष, शाल्मली द्वीपों की कोई निश्चित सीमा रेखा नहीं थी।

पुराणों के अनुसार अंग, बंग, मगध, कलिंग, सुहय् और पुण्ड्र राज्यों की स्थापना बलि के क्षेत्रज पुत्रों के द्वारा की गयी थी, जो ऋषि दीर्घतमस से उत्पन्न हुए थे। ऋषि दीर्घतमस के शिष्य बगदालभ्य (बकडोभ) थे जिनका आश्रम सिमरिया से पाँच किलोमीटर आगे बगडोभ गाँव में था। महर्षि बगदालभ्य एक सम्मानित ऋषि थें जिनका वर्णन पौराणिक कथाओं में मिलता हैं। विद्वानों ने अंग राज्य को बिहार में भागलपुर के आसपास का क्षेत्र माना है। दुर्योधन ने कर्ण का राज्याभिषेक अंग के राजा के रूप में किया तथा उसे अपना ऋणी बना लिया। अंग प्रदेश की राजधानी, प्राचीन चम्पा-भागलपुर के निकट एक पहाड़ी 'कर्णगढ़' से सम्बन्धित है, जो महाभारत के कर्ण से ही सम्बन्धित है। महाभारत में ऐसा वर्णन है कि भीम जब दिग्विजय पर निकले तो वे गिरिव्रज (राजगीर) के पश्चात मोदगिरि (मुंगेर) के पूर्व में कर्ण से युद्ध किया। इस प्रकार मुंगेर के निकट कर्णचौड़ा पहाड़ी भी महाभारत के कर्ण के नाम से प्रसिद्ध है।[2] महाभारत युद्ध के समय सरस्वती नदी के किनारे कर्ण का शिविर था। यह सरस्वती बागमती ही थी। ब्रह्मा की पुत्री का नाम 'अंगजा' है और सरस्वती ब्रह्मा की पुत्री हैं। अंगजा नदी का क्षेत्र 'अंग' का ही प्रदेश होना चाहिए। बागमती और बूढ़ी गंडक के संगम पर ही अंगिरा ऋषि का आश्रम था। जहाँ अंगिरा के जनों का प्रभाव था। बागमती ओर गंडक के तटों पर जब अंगिरा जनों का प्रभाव बढ़ने लगा तो स्थान परिवर्त्तन होना स्वाभाविक था। वैसे भी ऐसा देखा गया है कि एक ऋषि का कई स्थानों में ठहराना और वहाँ आश्रम बनाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। नदियों के ही तटों पर भारत की सभ्यता व संस्कृति का चरम विकास हुआ।

सरस्वती की धारा-पथ के अनुसार मगध, अंग, मिथिला के कुछ भाग और ब्रह्मोत्तर के कुछ भाग बिहार प्रदेश के हैं। कामदेव का एक नाम 'अंगज' है। अंगिरा ऋषि के अंग-अंगिराजनों की एक शाखा कृषि का कर्म करते थे। अंगिरा जन सरस्वती नदी के किनारे किनारे बढ़ते हुए 'काम्यक वन ' व शाल्मली बन' को स्थान-स्थान पर जला कर साफ किया होगा। फिर नवीन बस्तियाँ बसाकर, कृषि कर्म करने के लिए भूमि प्राप्त की होगी। अंगिरा जन जहाँ-जहाँ तक अपना वास स्थान बनाया, वह क्षेत्र 'अंग प्रदेश' कहलाया। यह संभव है कि सरस्वती का नाम अंगजा इन्हीं अंगजनों के कारण पड़ा हो।

अंग को उल्मुक (कुरू और आग्नेई) का पुत्र भी कहा गया है।' कुरूओं की भूमि कुरूक्षेत्र थी। जब 'कुरूजन', कुरूक्षेत्र के दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़े तो अंगिरा के क्षेत्र गंडक व बागमती पार कर बिहार के वर्त्तमान भागलपुर जिला को अपना क्षेत्र बनाया जो 'अंग' कहलाता है। वास्तव में उस काल में सरस्वती नदी प्रदेश में जनसंख्या का दबाब इतना बढ़ गया जिसके कारण बढ़ते ग्राम गोत्र धीरे-धीरे दक्षिण-पूर्व की ओर खिसका कर नवीन बस्ती व समाज का निर्माण कर रहे थे। सम्पूर्ण क्षेत्र में सत्ता और शक्ति का एक नया समीकरण उभड़ रहा था जो 'महाभारत' का कारण भी बना। नारदीय पुराण के अनुसार अंग का यह क्षेत्र मुंगेर कभी 'चम्पकातीर्थ' के नाम से विख्यात था जो काशी के मणिकर्णिका घाट की तरह ही विख्यात था।'- महाभारत के वन पर्व में इस बात का वर्णन आया है कि मुंगेर के उत्तर यानी गंगापार एक विशाल जंगल था जिसका फैलाव नेपाल तक था। शायद यह शाल्मली बन ही था जिसका वर्णन रूद्रयामल तंत्र अमृतीकरण प्रयोग के अन्तर्गत शिव-पार्वती सम्बाद में आया है। अत: चम्पारण्य का क्षेत्र कमला, बागमती और कोशी का संगम क्षेत्र ही था जो नेपाल तक विस्तृत था। मुंगेर का क्षेत्र प्राचीन 'चम्पा-राज्य' में था और गंगा के दक्षिणी भाग की भूमि भी चम्पा राज्य के अधीन थी। और यह क्षेत्र 'अंग-प्रदेश' कहलाती था। गंगा के उत्तर भाग की भूमि 'अंगुत्तराप' कहलाती थी। मगध सम्राट बिंविसार ने जब 'अंगराज' को जीत लिया था तो उसके अधीन 'अंगुत्तराप' का क्षेत्र भी आ गया था। मुंगेर के पूर्व भाग में स्थित 'पीर पहाड़ी' पर मुदगल ऋषि का आश्रम था, जिनके नाम पर ही इस क्षेत्र का नाम 'मुंगेर' हुआ।

बागमती (सरस्वती) नदी क्षेत्र में आर्यों की धनी आबादी थी जो नेपाल के जंगलों से एकत्रित किये गए सामग्री का व्यापार करते थे। ये लोग 'पणि' या वैश्य कहलाते थे। वैश्यों का प्रदेश ही 'वैशाली' कहलाया। ये वे लोग थे जो दो आर्य बस्तियों के बीच वस्तु विनिमय का कार्य करते थे। वैशाली के संस्थापक मूल रूप से बागमती (सरस्वती) प्रदेश के ही थे। विशाल का पिता तृणविन्दू चम्पकारण्य का ही निवासी था। विशाल भी ईक्ष्वाकु वंश का ही था और उसी के नाम पर वैशाली का प्राचीन नाम 'विशाला' था। मगध के राजवंशों का भी वैशाली से ऐतिहासिक साभ्यता थी।'

'कुशिक' का अर्थ 'गाद' या 'कीचड़' भी होता है। कौशिकी नदी क्षेत्र यानी 'गाद प्रदेश' में बसे 'जन' गाधि का प्रतीक हैं तो मगध में भी उसी 'गाद' की प्रधानता है। जहाँ तक विदेह भूमि की बात है तो इतना तय है कि विदेह भूमि की सीमा कोशी के तट तक थी। जब-जब कोशी पूर्व की ओर बढ़ी विदेह राज की सीमा विस्तृत होते गई और जब-जब कोशी पश्चिम की ओर बढ़ती तो विदेह राज की सीमा सिकुड़ती गयी। पश्चिम में लिच्छवी और मगध का मिलन होता रहा। वैशाली और मगध दोनो की वंशावलियों में कुछ-कुछ साम्यता है। बृहद्रथ की दो पत्नियों से आधा-आधा जन्मा बालक और फिर 'जरा' नाम की राक्षसी

द्वारा जोड़ा गया 'जरा संघ' महाभारत कालिन मगध बिहार का ऐतिहासिक पुरूष सिद्ध हो गया।

वैवस्वत मन्वन्तर के प्रारम्भ में ही दक्ष प्रजापति ने अपनी तेरह पुत्रियों का विवाह कश्यप ऋषि से कर दिया था। पुराणों के अनुसार कश्यप मानव दानव व नाग सहित समस्त प्राणियों के पिता है। महाभारत, विष्णु पुराण और अग्निपुराण के अनुसार कश्यप की इक्कीस पत्नियाँ थी जो सम्पूर्ण संसार की जननी हैं। कश्यप की पत्नी अदिति से देवताओं, दिति से दैत्यों, दनु से दानवों, काष्ठा से घोड़े आदि पशुओं, अरिष्ठा से गन्धर्वों, खशा से यक्षों-राक्षसों, इरा से वृक्ष-वनस्पतियों, मुनि से अप्सराओं, क्रोधवसा से पिशाचों, ताम्रा से पक्षिओं, सुरभि से गाय बैल जैसे चौपाया पशुओं, सरमा से पृथ्वी पर रेंगने वाले जीवों और तिमि से जलचर जीवों की उत्पत्ति हुई।

कश्यप की अन्य दो पत्नियों कद्रू से नागों और विनीता से अरूण और गरूड़ का जन्म हुआ। बागमती, कोशी और कमला का यह संगम क्षेत्र कश्यप ऋषि द्वारा ही पालित पोषित था। नीलमत पुराण के अनुसार कश्यप प्रजापति हैं। हिन्दू धर्मशास्त्रों में मगध क्षेत्र को अशुद्ध माना गया है। लेकिन बागमती (सरस्वती) के क्षेत्र में रहने वाले ऋषियों का आश्रम भी यहाँ था। इस क्षेत्र में गया, राजगृह तथा पुनपुन का क्षेत्र इन सप्त ऋषियों के कारण पवित्र माना गया है। कहा गया है कि-

मगघेषु गया पुण्या पुण्यं राजगृहं बनम।
च्यवनस्याश्रमं पुण्यं नदी पुण्या पुनःपुना।।

संदर्भ ग्रंथ

(1) महाभारत, सभापर्व (अ०, श्लोक-22)
(2) ऋग्वेद मंडल 6, सूक्त 61, मंत्र;2;9)
(3) ऋग्वेद (मंडल6, सूक्त 61, मंत्र 13)
(1) वराहपुराण, अध्याय 215 श्लोक 50-51
(1) आदर कामिल बुल्कें, पृ० 293-94
(1) ऋ० सं० 4/57/6,7
(2) अथर्ववेद 3/17/9
(1) ऋग्वेद 1/89/3, 7/95/4, 7/95/6
(2) ऋग्वेद 7/96/3
(1) बाल्मीकीय रामायण, काण्ड1, सर्ग-69, श्लोक-15
(2) शक्ति-संगम-तंत्र, सातवाँ परिच्छेद, श्लोक 27
(1) महाभारत के बन पर्व 110 वे, 111वें, 113वें अध्याय के कौशिकी प्रसंग से।
(1) पौराणिक कोष- राणा प्रसाद शर्मा, वाराणसी, 1986 पृ०-1 आर० सिद्धन्त शास्त्री 'हिस्ट्री ऑफ प्रि कलियुग इंडिया दिल्ली, 1978 पृ०-174
(2) वी० के० माथुर ऐतिहासिक स्थानावली, जयपुर 1969, पृ०- 143
(1) राजा प्रसाद शर्मा ''पौराणिक कोष'' पृष्ट-1
(1) चम्पकाख्यं पुण्यतीर्थ यद्गङोतरवाहिनली।
हिमणिकर्णिकया तुल्यं महापातकनाशनम्।।
(नारदीय महापुराण, उत्तरखंड, 41/43

❑❑❑

परमात्मा और माया

आचार्य विनोबा भावे

शांकर-विचार = अद्वैत। अद्वैत अर्थात् प्रेम की परिसीमा। यह सारा जगत् मेरा ही रूप है, यह अद्वैत की भूमिका है। अद्वैत में जैसे जगत् अपने से भिन्न नहीं है, वैसे ईश्वर भी भिन्न नहीं, यहां तक मंजिल पहुंचती है।

ईश्वर, जगत् और मैं, इनमें अद्वैत होते हुए भी यह तीन का मामला कहां से आ गया? इसके लिए आचार्य का उत्तर है, माया के कारण। और माया मिथ्या है, यह शांकर-सिद्धांत का हार्द है। मिथ्या यानी क्या? मिथ्या का अर्थ 'झूठ' नहीं है। मिथ्या यानी, सत्य भी नहीं और झूठ भी नहीं, भासरूप। निराकार पर आकार, यह आभास। जिसको न सत्य कह सकते हैं, न असत्य ही कह सकते हैं, वह माया का रूप है। मिथ्या शब्द का यह पारिभाषिक अर्थ है।

जीव, जगत् और ईश्वर के संबंध के विषय में हर एक दार्शनिक को सोचना ही पडता है। तदनुसार सब तत्त्वज्ञानियों ने सोचा है, चाहे वे पश्चिम के हों, या पूर्व के हों, या भारत के। लेकिन किसी दार्शनिक का दूसरे किसी दार्शनिक से मेल मिलेगा यह कतई संभव नहीं। अगर मेल मिलेगा तो 'स्वतंत्र' दार्शनिक बनेगा ही कैसे! इसलिए भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने, तत्त्वज्ञानियों ने, और पंडितों ने तरह-तरह के वाद तार्किक बुद्धि के समाधान के लिए बनाये हैं। वे सारे तो नहीं, लेकिन उनमें से बहुत-से देखने का मुझे अवसर मिला। उस पर से मैं देखता हूं कि बुद्धि को सबसे अधिक समाधान देने का सामर्थ्य मायावाद में ही है। 'माया' शब्द शंकर का अपना नहीं है। ऋग्वेद से चला आया है। लेकिन कहा जाता है, और सामान्यतया वह सही भी है, कि ऋग्वेद का माया शब्द शक्ति का द्योतक है न कि वेदांत की आभासिक माया का। लेकिन यह पूर्णतया सही नहीं है। आभासिकत्व का द्योतक माया शब्द भी ऋग्वेद में उपलब्ध है। 'इंद्र ने अनेक शत्रुओं के साथ युद्ध किया, और उनको जीता, ऐसा वर्णन ऋग्वेद में आता है। उस सिलसिले में ऋग्वेद कहता है-मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुः नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से- 'हे इंद्र, तेरे जो युद्धवर्णन किये जाते हैं वे केवल मायारूप हैं। क्योंकि तू न किसी शत्रु को आज जानता है, न पहले कभी जानता था।' अर्थ स्पष्ट है। इस पर से ध्यान में आयेगा कि मायावाद पुरातन है, और शंकर ने केवल उसको दार्शनिक रूप दिया है। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि माया यानी 'कुछ है ही नहीं' ऐसी बात नहीं। माया यानी झूठ, इतनी सादी बात होती तो उसका तत्त्वज्ञान ही नहीं बनता।

माया का वर्णन करते हुए शंकराचार्य कहते हैं,

अव्यक्त-नाम्नी परमेश - शक्ति : अनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा

कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते

अव्यक्त-नाम्नी अव्यक्त नाम की परमात्मा की शक्ति है। अव्यक्त-नाम्नी से यहां माया का वर्णन है। माया को अव्यक्त-नाम्नी कहा यानी माया दिखती नहीं, वह अव्यक्त है। उसके दो कार्य है 1. आवरण डालती है 2. विक्षेप करती है। उसकी आवरण करनेवाली, ढांकनेवाली जो आवृति-शक्ति है वह गाढ तमस् से बनी हुई है। वह आवरण शक्ति आत्मा को चारों तरफ से ढांक देती है, जैसे राहु सूर्यबिंब

को ढांकता है। जो आत्मा सदा स्फूर्तिरूप चमकता है, अखंड-नित्य- अद्वय है, बोध-शक्ति के कारण स्फूर्तिमान है और अनंत लेकिन वैभवशाली है, उस आत्मा को ढांकती है। टुकडे तो नहीं कर सकती, ढांक सकती है। यहां सूर्यबिंब की उपमा ठीक लागू होती है। सूर्य और आंख के बीच बादल आ गये तो हम कहते हैं, सूर्य ढंक गया। वास्तव में सूर्य बहुत बडा है, वह ढंकता नहीं, हमारी आंख ढंक जाती है। वैसा वह तमोमयी शक्ति हमारी बुद्धि को ढांकती है। भास होता है, आत्मा ढंक गया। आवरण-शक्ति आत्मा को ढांक देती है और अत्यंत तेजस्वी अंतरात्मा ढक जाने पर मनुष्य मोह से 'मैं शरीर हूं,' यूं समझकर अनात्मा को पकड रखता है।

माया कैसी है? अनादि। उसका आरंभ कब हुआ, यह कहना संभव नहीं। अथवा यह कहिए कि उसे आदि है नहीं। माया शब्द ज्ञान बता रहा है। माया यानी मापन-शक्ति। ज्ञान की शक्ति। अच्छे अर्थ का यह शब्द है। लेकिन माया मिथ्या है, यह चिंतन शुरू हुआ तबसे माया यानी जो है ही नहीं, ऐसा अर्थ लोग समझने लगे। लेकिन वह काल्पनिक निरुक्ति है। यानी वह निरुक्ति व्याकरण के अनुसार नहीं है। मायां तु प्रकृतिं विद्यात्-माया है प्रकृति और मायी है। शक्तिमान यानी परमेश्वर। अविद्या का अर्थ स्पष्ट है, अज्ञान। वह 'अनादि अविद्यारूपा' और त्रिगुणात्मिका है। जिसके कारण यह सारा जगत् प्रसूत होता है, पैदा होता है, उस माया का सूक्ष्म बुद्धि से अनुमान करना होगा।

वेदांत में जिसे माया कहते हैं, उसे नानक ने जपुजी में दुनिया की 'माई' यानी माता कहा है। युक्ति से सबका प्रसव करनेवाली वह मां है। परमेश्वर के संयोग के बिना माया ही प्रसूत करती है इसलिए जुगति यानी युक्ति से प्रसव करनेवाली कहा। ऐसी यह अद्भुत प्रसूति है। उस माया में ऐसी शक्ति है कि वह अपने में से ही तीन गुण पैदा करती है- सत्त्व, रज, तम। इसमें परमेश्वर की मदद की जरूरत नहीं है। परमेश्वर साक्षी, तटस्थ है।

माया का गुण-वर्णन करते हुए शंकराचार्य कहते हैं-

सत् नाप्यसत् नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो
सांगाप्यनंगा ह्युभयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा

वह न सत् है, न असत्। यानी है भी नहीं कह सकते, और नहीं भी नहीं कह सकते। न उभयात्मिका, दोनों इकट्ठा भी नहीं कह सकते। तीन ही वाद हो सकते हैं- है-वाद, नहीं-वाद, है-नहीं-वाद (उभयवाद)। भिन्न नहीं यानी परमात्मा से भिन्न भी नहीं, अभिन्न भी नहीं और भिन्नाभिन्न भी नहीं। भिन्न कहनेवाले द्वैती हैं, परमात्मा से भिन्न नहीं है कहनेवाले अद्वैती हैं, और भिन्नाभिन्न नहीं कहनेवाले द्वैताद्वैती हैं। मतलब, अब उसके बारे में आपका बोलना ही बंद हो गया। न सांगा है, न अनंगा है। सांगा अंगेन सहिता। अंग यानी आकार। साकार भी नहीं कह सकते, निराकार भी नहीं कह सकते। साकार-निराकार भी नहीं कह सकते। उभयात्मिका भी नहीं। तो कैसी है? महाद्भुता। महान अद्भुत् है। उसके रूप का वर्णन नहीं हो सकता। इतने सारे शब्द कह दिये, ताकि कुछ प्रकाश पडे। और आखिर में अनिर्वचनीयरूपा कहकर समाप्त किया। अनिर्वचनीय यानी जो बोला नहीं जा सकता। किसी शब्दप्रयोग से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसके आगे कुछ कहने का बचता नहीं।

तो यह माया क्या है? माया कहते हैं परमेश्वर की शक्ति को, उसकी कला को, उसकी

कुशलता को। आत्मा और प्रकृति-अथवा जैन परिभाषा में कहें, तो जीव और अजीवरूपी इस मसाले से जिसने यह अनंत रंगोंवाली सृष्टि रची है, उसकी शक्ति अथवा कला ही 'माया' है। जेल में जैसे एक ही अनाज की वह रोटी और वही एक सर्वरसी दाल होती है, वैसे ही एक ही अखंड आत्मा और एक ही अष्टधा प्रकृति समझो। इससे परमेश्वर तरह-तरह की चीजें बनाता रहता है। हम इन चीजों को देखकर अनेक विरोधी, अच्छे-बुरे भावों का अनुभव करते हैं। इसके परे जाकर यदि हम सच्ची शांति पाना चाहते हैं, तो इन वस्तुओं के निर्माता को पकड़ना चाहिए, उससे परिचय कर लेना चाहिए। उससे जान-पहचान होने पर ही यह भेदमूलक, आसक्तिजन्य मोह टाला जा सकेगा।

माया का स्वरूप क्या कहा जायेगा? वह बदलता रहता है। हजारों रूप लेती है माया। सहस्र-सहस्र, अनंत-अनंत रूपधारिणी है माया।

जिसे हम माया कहते हैं, वह परमात्मा का प्रकाश है। जब अत्यंत तीव्र प्रकाश हमारी आंखों के सामने आता है, तब हमारी आंखें चौंधिया जाती हैं और हम कुछ भी देख नहीं सकते। इस अति प्रकाश को माया कहते हैं। 'माया' नाम पसंद नहीं करते ऐसे भक्तजन इसी को 'लीला' कहते हैं। योगी उसी को 'स्फूर्ति' के रूप में देखते हैं। विज्ञानवेत्ता उसे 'स्वभाव' कहते हैं। परमात्मा के प्रकाश को ज्ञानी माया, भक्त लीला, योगी स्फूर्ति और वैज्ञानिक स्वभाव (नेचर) कहते हैं।

विश्वरूप में अर्जुन को न अंत, न मध्य न आरंभ दीखता है। अंत, मध्य, मूल का न होना यानी वर्तुलाकार, शून्याकार होना। यही माया का रूप है। समूचा जगत् शून्य ही है। यही माया। कुछ न होते हुए भी आभास होता है कि 'है'। मैं हमेशा एक दृष्टांत देता हूं। जब कहीं जमीन पर पानी गिर जाता है तो उसमें भिन्न-भिन्न चित्र दिखायी देता है। वे चित्र पांच-दस मिनिट के होते हैं। और ये चित्र पचास सौ वर्षों के, इतना ही अंतर है। और इतने समय में भी उन चित्रों में बदल होता ही रहता है। यही माया है।

भगवद्गीता के चौथे अध्याय में भगवान कहते हैं,

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानाम् ईश्वरोऽपि सन्

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवामि आत्ममायया।

मेरी प्रकृति को ओढकर मानो माया से जन्म लेता हूं। अर्थात् भगवान 1. अजन्मा होकर जन्म लेता है 2. निर्विकार होकर भी विकारी बन जाता है

3 प्रभु होकर भी सेवक बन जाता है 4. वशप्रकृति होकर भी प्रकृतिवश हो जाता है-यही माया है। इस प्रकार के विरोधात्मक आभास निर्माण करना ही माया का स्वरूप है।

वैसे ही अठारहवें अध्याय में भी भगवान कहते है- भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया-सब भूतों को मानो यंत्र पर चढाकर माया से भ्रमण करवाता है। यहां 'माया से' चलाता है यानी आभासिक संचालन। जिसका जैसा चलाया जाना स्वभाव है, उसे वैसा ईश्वर चलाता है। वस्तुतः ईश्वर तटस्थ है।

योगमाया का जिक्र करते हुए भगवान कहते हैं, नाहं प्रकाश सर्वस्य योगमायासमावृतः योगमाया से वेष्टित मैं लोगों के लिए अंधकाररूप ही हूं। इसलिए मूढलोग मेरे अजम् अव्ययम्, अजन्मा नित्य स्वरूप को नहीं पहचानते।

योग यानी भगवान की विशिष्ट शक्ति और वही माया। वह शक्ति क्या है? निर्गुणत्व कायम

रखकर सगुण बनना; निरवयवत्व कायम रखकर सावयव बनना- इस प्रकार परमात्मा अपने विशिष्ट अव्यक्त स्वरूप को कायम रखकर व्यक्त बनता है। यहां अव्यक्त की व्याख्या ही की है- निर्गुण, निष्क्रिय, निराकार, निरवयव। और व्यक्त की व्याख्या सगुण, सक्रिय, साकार, सावयव। अपने अव्यक्त स्वरूप को लेशमात्र बाधित न होने देकर व्यक्त बनने की परमात्मा की यह जो शक्ति है. वह योगमाया है।

वैसे ही अपनी त्रिगुणमयी देवीमाया की बात करते हुए भगवान गीता में कहते हैं- दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया मेरी यह त्रिगुणमयी दैवी माया दुस्तर है। और फिर भगवान एक ही वाक्य में कहते हैं- 'जो माया को तर जाना चाहते हैं, वे मेरी शरण आयें।' ज्ञानदेवमहाराज कहते हैं, 'यहां वही व्यक्ति लीला को तरते हैं, जो सर्वभाव से मेरा भजन करते हैं। उनके लिए इसी किनारे मायाजल सूख गया है।

हरिभक्त के लिए हरि की माया' तर जाने की चीज नहीं रहती, बल्कि वह तारक होती है। ज्ञानी भगवान की माया को भयंकर वस्तु समझता है और उसे तरने की बात करता है। जबकि भक्त कहता है, मेरे लिए वह तारक है। अर्थात जिसे माया कहते हैं वह भक्ति के साधन हो सकते हैं। उन्हें भक्ति के साधन बनाये कि वे तारक हुए। कोई सुंदर मूर्ति देखकर उस पर मोहित हुआ तो डूबा और उसका भगवान की मूर्ति समझकर उसकी पूजा शुरू की तो तर गया। रामकृष्ण परमहंस के माता-पिता ने समझा लडका पागल सा है। उसकी शादी कर देंगे तो वह सुधर जायेगा। पत्नी आयी। वह रोज रामकृष्ण की पूजा में मदद करती थी। एक दिन रामकृष्ण ने उसे ही आसन पर बैठाकर उसकी गंध-फूल-अक्षत से पूजा की और 'मा जगदंबा' कहकर उसको साष्टांग प्रणाम किया तो जो माया समझी गयी थी, वह तारक हुई। डरने का कोई कारण ही नहीं रहा। जिसके बारे में मोह है उसे ही पूज्य बना दो कि काम हो जायेगा। उसे ईश्वर का रूप मानने से, उस वस्तु की मोहकारक शक्ति समाप्त हो जाती है। और उसमें तारक शक्ति दाखिल हो जाती है।

ईश्वर का स्वरूप क्या है. अथवा अपनी माया के साथ उसका संबंध कैसा है, इन प्रश्नों का निर्णय करना. अथवा उसे शब्दों में रखना असंभव है। ईश्वर को नापना यानी आकाश पर गिलाफ चढाने जैसा ही है। वह इतना व्यापक है कि किसी भी नाप में समा नहीं सकता। लेकिन इसलिए अगर उसे व्यापक कहा जाये तो भी ठीक नहीं, क्योंकि व्याप्य भी वही है। विरोधी विशेषणों में से कोई भी एक विशेषण, उसके वर्णन के लिए अपूर्ण पडता है। इसलिए, अगर दोनों का एकत्र प्रयोग किया जाये. तो अर्थनिष्पत्ति ही नहीं होती। ईश्वर की व्याख्या करने के लिए बुद्धि को जितना-जितना दौड़ायें उतना-उतना वह अधिक ही आगे दौड़ता है। छाया के पीछे दौड़ने जैसी ही बात होती है वह।

तो क्या ईश्वर की माया को उससे अलग किया जा सकता है? द्रव्य और द्रव्य के गुण, वस्तु और वस्तु का आकार, कारण और कारण का कार्य, एक-दूसरे से भिन्न हैं, या अभिन्न हैं, या और किसी प्रकार के हैं-इस संबंध में दर्शनकारों के झगडे कभी भी मिटे नहीं! वास्तव में, ये झगडे दर्शनकारों के न होकर, ईश्वर और उसकी माया के बीच के हैं। उन दोनों को एकत्र रखा जाये तो भी वे लड़ते हैं और अलग करें तो लड़ते ही हैं। ऐसे झगडालू माता-पिता को हम बालक कैसे समझायें? इसलिए ज्ञानदेव इस झंझट में न पड़कर, माया का नाम ही छोडकर, ईश्वर चरणों में लीन होना पसंद करता है।

माया ईश्वर को ढक देती है. इसलिए वह कुरूप काली। ईश्वर उस माया को ढक देता है, इसलिए वह उज्ज्वल काला।

❑❑❑

"तत्वात्मक ज्ञान के बिना निर्वाण एक स्वप्न"

सर्वरूपमयीं देवी सर्व देवीमयं जगत्।
अतोऽहं विश्वरूपां तां नमामि परमेश्वरिम्॥

• स्वामी सत्यानन्द
सर्वमंगला शिव शक्ति पीठ
कश्यपधाम दादपुर (बेगूसराय)

एक दिन सौभाग्यवश संध्याकाल के समय परम पूज्य गुरूदेव स्वामी की सानिध्यता प्राप्त हुई। संध्योपासना, भ्रमण एवं पूजनोपरान्त जब परम पूज्य स्थिरचित्त बैठे तो उनके आदेशानुसार मुझे भी सौभाग्यवश उनकी सानिध्यता में बैठने का सुअवसर प्राप्त हुआ। कुछ क्षण के बाद परम पूज्य के श्रीमुख से आशीर्वचन का प्रारंभ हुआ और प्रथमतः बताया गया कि "तत्वात्मक ज्ञान के बिना निर्वाण (मोक्ष) संभव नहीं है।" फिर आशीर्वचन स्वरूप ही विषयोक्त दृष्टांतों का शिलशिला चलता रहा। अन्ततः वहाँ से पृथक होने के उपरान्त मेरे अन्दर विषयोक्त चिन्तन प्रारंभ हुआ। वास्तव में तत्व तो एक है जिससे अनेक का निर्माण होते रहता है और फिर वह अनेक उसी एक में ही समाहित भी होता है तो आखिर वह एक क्या? चिन्तनोपरान्त एक स्तुती पर ध्यान केन्द्रित होता है:-

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं वालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि॥

सृष्टि का लय होता है। फिर सृष्टि हेतु प्रारंभ होता है। शक्ति की लीला और परम पिता परमेश्वर अर्थात् आदि पुरूष स्वयं बाल रूप में एक वट वृक्ष की कली रूप वट पत्र पर अपने आप को पाते हैं। उनके मन में चिन्तन स्वरूप एक प्रश्न उठता है मैं कौन? उसी प्रश्नान्तर्गत चिन्तन के क्रम में एक आकाशवाणी सुनाई पड़ती है-

"सर्व खलविद मेवाऽहम् नान्य दसति सनातनम्"

अर्थात् सब कुछ मैं ही हूँ मेरे सिवा और कुछ भी नहीं है। शास्त्रानुसार इस रहस्य का स्पष्टीकरण तब होता है जब आद्या की लीला सूत्रधार ब्रह्मा, विष्णु और महेश भ्रमणोपरान्त मणीद्वीप में विराजमान होते हैं। जहाँ स्वयं विष्णु, महेश, ब्रह्मा, स्त्री रूप में परिणत हो माता का दर्शन पाकर धन्य होते हैं। वही माता ने तीनों को उनका कार्य बताते हुए शक्ति सम्पन्न कर तीन वीज क्रमशः "ऐं" "ह्रीं" "क्लीं" प्रदान करते हुए कार्य में सफलता हेतु जप का निर्देश दिया। तत्पश्चात् तीनों पुनः अपनी अपनी शक्ति सहित अपने ध ाम को लौट आये अपने वास्तविक रूप पुरूषत्व के साथ। अर्थात् इस दृष्टांत से सुस्पष्ट प्रमाणित होता है कि वह एक मात्र माँ आद्याशक्ति ही हैं जिनकी लीलारूपी भावना मात्र से सृष्टि का निर्माण होता है पालन होता है और संहार भी होता है और मानवतन धारियों के लिए इसी रहस्य को जानने समझने हेतु माँ ने विशेषतः विवेक शक्ति प्रदान किया है न कि भौतिकप्रस्त भोग के लिए। उपरोक्त रहस्यात्मक तथ्य को ही श्री दुर्गा सप्तसती के प्रधानिक रहस्यम् में श्लोक चार के माध्यम से और भी स्पष्ट किया गया है:-

''सर्वस्याद्या महालक्ष्मी स्त्रिगुणा परमेश्वरी।

लक्ष्यालक्ष्य स्वरूपा सा व्याप्य कृत्स्नं व्यवस्थिता।

अर्थात् त्रिगुणमयी परमेश्वरी महालक्ष्मी ही सबका आदि कारण है। वे ही दृश्य और अदृश्य रूप से सम्पूर्ण विश्व को आाप्त करके स्थित है। यानि तत्वात्मक ज्ञान का सीधा संबंध उन्ही एका मात्र से है जो नेका भी है वही अचेत है, देव हैं, देवाचेत हैं एवं विशिष्टा भी हैं। सृष्टि अन्तर्गत जो भी जीव हैं तो सभी ऋषि संतान पर ऋषि भी तो नही है अर्थात उन्ही एका से प्रारूप में हैं। प्यान देने योग्य तथ्य है सारे जीवों में उन एका ने विशेष विवेक शक्ति युक्त मानव रूपी जीन को सृजित कराया जो उन एका तक पहुंचने की अंतिम सीढ़ी है। इस मानव तन को निर्वाण प्राप्ति हेतु इनके पूर्वज ऋषियों ने तीन प्रमुख श्रोत प्रदान किये जो हैं क्रमश कुल देवी, संस्कार और वीजाक्षर। कुल देवी अर्थात् उन्हीं एका की शरणागति। संस्कार अर्थात् वैदिक सनातन प्रदत शिखा, सूत्र, गोत्र, देवकर्म, पितरकर्म जिसमें समाहित है सारे जीवनोपयोगी मंत्र और बीजाक्षर जो उन्हीं एका के द्वारा प्रदत ब्रह्मा विष्णु और महेश की शक्ति हैं। इन्हीं बीजाक्षर में सृष्टि के निर्माण, पालन एवं संहार का सारा रहस्य छिपा है जिसे जानना ही तो निर्वाण है और हमारे पूर्वज ऋषि इसे जानने के पश्चात् ही अपने संतानों सहित विश्व कल्याणार्थ के निमित्त ऐसा श्रोत प्रदान किया। पर वर्तमान तो इन सारे श्रोतों से पृथक अलग-अलग भौतिकताप्रस्त विज्ञान आधारित श्रोतों को अंगीकार कर आध्यात्म रहित जीवनशैली अपना चुका है तो फिर अगर निर्वाण की उम्मीद रखते हैं तो क्या यह कभी संभव है? कारण तो सुस्पष्ट है कि आज हम भौतिकताप्रस्त केवल विज्ञान आधारित अनुसंधान पर भरोसा कर अपने मूल से कोसों दूर हो चुके हैं। हमारा मूल जो हमारे पूर्वज ऋषियों ने अपनी अनुभूति के आधार पर हम सबों के कल्याणार्थ सार रूप में पुराणों के माध्यम से परोस दिया उसे तो आज हम समझने को तैयार ही नहीं है। जिन एका को वास्तविक रूप से हमें जानना ही मोक्ष अर्थात् निर्वाण है उन्हीं की उन्नति है जो स्वयं उन्होंने गीतोपदेश के प्रारंभ में ही कहा है:-

गृहित्वा मम मन्त्राचे सदगुरोः सुसमाहितः।
कायेन मनसा वाचा मार्गेव ही रामाश्रयेत।। 50''
पूजायाज्ञादिकं कुर्याद्यथा विधि विधानतः।
श्रुति स्मृत्युदितैः सम्यक स्ववर्णाश्रम वर्णितः।। 62
सर्वयज्ञ तपोदानैर्गमेव ही समर्चयेत।
ज्ञानात्संजायते मुनितर्गनितज्ञन्स्य कारणम्।। 63''
धर्मत्संजायते भक्तिर्धर्मो यज्ञादिको मतः।
तस्मान्मुमुक्षुर्धर्मार्थ ममेदं रूपमाश्रयेत।। 4

अर्थात् सुस्पष्ट निर्देश है कि अपने जीवन को पूर्णत्व प्रदान करने हेतु ज्ञान परमावश्यक है और उस ज्ञान प्राप्ति के लिए सद्गुरू से मात्र उन्हीं एका का मन्त्र प्राप्त कर उन्हीं की शरणागति में पूर्ण समर्पण। क्योंकि जितने भी जप, पूजा, पाठ, हवन, यज्ञ आदि का विधान बना है वे सभी उन्हीं के हैं उन्हीं के निमित है। उनका सुस्पष्ट निर्देश है कि ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है। ज्ञान भक्ति से प्राप्त होता है और भक्ति के

लिए धर्म परमावश्यक है जो हैं मात्र अपरूषेय सनातन। परन्तु आज सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है कि आज अपने आपको सनातन का बफादार कहने वाले संत महन्थ जो खुद निर्वाण के प्रमुख श्रोत से व्यक्तिगत पहचान हेतु पृथक है वे भी बातें करते हैं निर्वाण की जिनके अन्दर ''मैं एवं तुम'' प्रचूर मात्रा में विद्यमान है। चिन्तन यह भी करना है कि क्या यौगिक ज्ञान एवं मिश्रित ज्ञान सम्पन्नता से निर्वाण हेतु एक मात्र सात्विक ज्ञान की उम्मीद दिवा स्वप्न नही तो और क्या है? हाँ यह भी यथार्थ है कि उस एका तत्व को जानने, समझने एवं सानिध्यता प्राप्त करने हेतु हम मानवों को द्वैत से गुजरना होगा लेकिन द्वैत में स्थापित होकर अद्वैत को समझना असंभव है। अर्थात बीजाक्षर को समझने हेतु प्रथमतः अक्षर का ज्ञान परमावश्यक है जिनकी क्रमशः तीन श्रेणी हैं स्वर, व्यंजन और विसर्ग। अब प्रश्न उठता है कि अक्षर क्या है। इसकी जीवन शैली स्थान क्या है। सर्वप्रथम तो यह जानना और समझना जरूरी है कि अक्षर से बीजाक्षर तक का क्रमबद्ध ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान की पराकाष्ठा है जो निर्वाण की श्रेणी है। आध्यात्म के दृष्टिकोण से अगर हम यौं समझें कि मानव जन्म के पश्चात् उनके अन्दर क्रमशः वैदिक सनातनी संस्कार का प्रतिष्ठापन ही अक्षर का बोध है और पूर्ण संस्कारित मानव ही देवत्व की श्रेणी में स्थापित हो तात्विक ज्ञान को प्राप्त करता है। दूसरे रूप में हम यह भी समझ सकते हैं कि अक्षर रूपी द्वैत के सहारे अद्वैत रूपी तत्व का ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे जीवनापयोगी वाक्य निर्माण के लिए क्रमवार अक्षर से अक्षर को मिलाकर शब्द बनाते हुए फिर शब्द से शब्द को मिलाकर वाक्य का प्रारूप होता है उसी प्रकार पूर्ण संस्कारित होने के लिए षोडष संस्कार से संस्कारित होते हुए पूर्ण संस्कारित मानव ही तात्विक ज्ञान का अधिकारी वन तत्व की सानिध्यता पाने में सफल हो जाता है और इसीलिए यह कहना कोई व्यर्थ नहीं कि अक्षर से बीजाक्षर तक के ज्ञान प्राप्ति की यात्रा तभी संभव हो सकता है जब हम मानव सनातन आधारित संस्कार से संस्कारित रहेंगे। सद्शास्त्रों ने सुस्पष्ट निर्देशित कर रखा है ''आचारात् लभते ज्ञानम'' और सदाचरण की आधारशिला तो मात्र संस्कार ही है। अतः शास्त्रोक्त निर्देश के तहत निर्वाण अर्थात् तत्व का ज्ञान प्राप्ति हेतु संस्कार सहित सदाचरण परम आवश्यक है।'' ❑

मोती

एक सीप ने अपनी पड़ोसिन सीप से कहा, ''मेरे पेट में भयंकर पीड़ा हो रही है। वहाँ कोई भारी-भारी गोल-गोल सी चीज जान पड़ती है, जिसने मेरे प्राणों को संकट में डाल रखा है।''

तब दूसरी सीप ने दर्पपूर्ण संतोष के साथ कहा, ''''आकाश और समुद्र को अनेकानेक धन्यवाद कि मैं पीड़ा से मुक्त हूँ, भीतर और बाहर सब प्रकार नीरोग और चंगी हूँ।''

उसी समय एक केंकड़ा उधर से जा रहा था। उसने उन दोनों की बातें सुन लीं और नीरोग और चंगी होने की डींग भरने वाली से कहा, ''हाँ-हाँ, तुम नीरोग और चंगी जरूर हो, लेकिन तुम्हारी पड़ोसिन जिस पीड़ा का भार वहन कर रही है, जानती हो वह क्या है? एक असाधारण सुन्दर मोती।''

❑❑❑

वायु धागा है

●उपनिषदों की कहानियाँ

अरुणि ऋषि का पुत्र उद्दालक बहुत गहरी सूझ-बूझ रखता था। जब सभी एक-एक कर याज्ञवल्क्य की श्रेष्ठता को स्वीकार करते और इस विषय में निराश होते जा रहे थे कि कोई उन्हें निरुत्तर कर सकता है, तब भी उसकी नजर गायों पर टिकी हुई थी और वह एक ऐसा जटिल प्रश्न तैयार करने में लगा हुआ था जिसका उत्तर उनसे देते न बन पड़े।

अपने विषय में उसने जो कुछ बताया उससे यह प्रकट हो रहा था कि या तो वह भी उस पर्यटक दल में शामिल था जो मद्र देश में उस समय पहुंचा था जब हनुमान जी के गोत वाले काप्य पतंजलि की कन्या पर यक्ष का आवेश हुआ था, या उनसे इस विचित्र घटना की चर्चा सुन कर कोई दूसरा दल वहां पहुंचा था, जिसमें वह शामिल हुआ था। ध्यान देने की बात यह है कि जिसे भुज्यु ने कन्या समझ लिया था वह पतंजल की पत्नी थी। उसको अपनी सुंदरता पर बहुत गर्व था। दूसरों से प्रशंसा पाने की इतनी भूख कि जब कोई सुंदर युवक बाहर से भिक्षाटन करता हुआ वहां पहुंच जाता था तब उस पर हिस्टीरिया का यह दौरा पड़ जाया करता था। जब आरुणि उद्दालक वहां पहुंचे तो उसे दौरा फिर पड़ गया। संभव है यह दल कुछ शरारती भी रहा हो इसलिए कोई बहाना बना कर तब तक के लिए वहीं रह गया हो जब तक कि उसे नया दौरा न पड़े। दूसरी संभावना इसलिए अधिक ठीक लगती है कि इनके सामने गंधर्व ने कुछ भिन्न रहस्यों पर प्रकाश डाला था।

आरुणि ने बताया, ''एक समय की बात है कि हम यज्ञविद्या का अध्ययन करते हुए मद्र देश में कपिगोत्रोत्पन्न पतंजलि के घर पर रहते थे। उसकी पत्नी को गंधर्व का आवेश होता रहता था। हमने उस गंधर्व से पूछा, तू कौन है? तो वह बोला, मैं आथर्वन कबंध हूं।

उस गंधर्व ने काप्य पतंजल से पूछा, क्या तुम उस सूत्र को जानते हो जिसके द्वारा यह लोक, परलोक, और सारे भूत ग्रथित हैं?

काप्य पतंजल ने अपनी अज्ञता प्रकट की।

फिर उसने पूछा, क्या तुम उस अंतर्यामी को जानते हो जो इस लोक, परलोक और समस्त भूतों को भीतर से नियंत्रित करता है?''

काप्य ने पुन: अपनी अनभिज्ञता प्रकट की।

इस पर उस गंधर्व ने कहा, काप्य, जो उस सूत्र को और उस अंतर्यामी को जानता है, वह ब्रह्मविद है, लोकविद है, देवविद है, वेदज्ञ है, भूतविद है, आत्मविद है, और सर्वविद है। फिर उस गंधर्व ने काप्य को तथा वहां उपस्थित सभी को यह बताया कि वह सूत्र क्या है और वह अंतर्यामी कौन है। वहां मैं भी उपस्थित था इसलिए यह रहस्य मुझे भी ज्ञात है।''

इस असाधारण ज्ञान के बल पर उन्होंने याज्ञवल्क्य का चुनौती देते हुए कहा, ''क्या तुम बता सकते हो कि वह सूत्र क्या है और वह अंतर्यामी कौन है? यदि तुम उस सूत्र को और उस अंतर्यामी को

जाने बिना गायों को ले जाओगे तो तुम्हारा सिर कट कर गिर जाएगा।''

याज्ञवल्क्य को वह सूत्र भी मालूम था और वह उस अंतर्यामी को भी जानते थे।

उद्दालक ने कहा, ''जानते हो तो बताओ। जानता हूं कहने से क्या होता है। इस तरह की डींग तो कोई भी हांक सकता है। बताओ कि तुम इनके बारे में क्या जानते हो?''

याज्ञवल्क्य ने कहा, ''यह लोक परलोक, समग्र भूत समुदाय, वायु रूपी सूत्र से गुंथे हुए हैं। आदमी जब मर जाता है, जब उसकी प्राण वायु निकल जाती है तो इसी कारण लोग कहते हैं, इसके अंग ढीले पड़ गए।''

आरुणि उद्दालक ने कहा, ''ठीक है। इस उत्तर से तो मैं संतुष्ट हूं पर अंतर्यामी का वर्णन करो।''

अब याज्ञवल्क्य को एक-एक पिंड और सत्ता का नाम ले कर समझाना था कि उनके भीतर कौन विद्यमान है, क्योंकि इस तरह के विवेचन में समय जितना भी लगे, इसके बिना श्रोताओं को स्पष्ट रूप में कोई बात समझ में नहीं आ सकती थी और यदि कोई पदार्थ या पिंड गणना में आने से रह गया तो फिर आशंका उठाई जा सकती थी कि उसके भीतर कौन है और कौन उसको जानता है और भीतर से उसे संचालित और नियमित करता है, पर वह उसे नहीं जानता। यह एक लंबा व्याख्यान था जो आज के पाठकों के लिए कुछ उबाऊ और भक्तों के लिए अत्यंत संक्षिप्त और सूत्रबद्ध प्रतीत हो सकता है।

याज्ञवल्क्य ने कहा, ''जो पृथ्वी के भीतर रहता है, पृथ्वी जिसका शरीर है, जो भीतर रह कर पृथ्वी की गति और प्रकृति को नियमित और संचालित करता है, वह तुम्हारी आत्मा ही अंतर्यामी अमृत है। जो जल में रहता है, जल ही जिसका शरीर है, जल को जो भीतर से नियमित करता है वह अमृत अंतर्यामी भी तुम्हारी यह आत्मा ही है।'' यही बात उन्होंने अग्नि, अंतरिक्ष, वायु, द्युलोक, आदित्य, दिशाओं, चंद्रलोकों, नक्षत्रों, आकाश, अंधकार, तेज, समस्त भूत समुदायों, प्राणों, उच्चारों, चक्षुओं, श्रोत्रों, मनों, त्वकों, ज्ञानों, विज्ञानों के विषय में स्फुट रूप में दुहराई और बताया इनमें से प्रत्येक के भीतर जलों, विद्यमान होते हुए, उनको नियमित और निर्देशित करते हुए भी वह इनके लिए अज्ञात और अदृश्य ही रह जाता है। वह स्वयं दिखाई नहीं देता, पर द्रष्टा है। सुनता है पर सुना नहीं जाता। मनन करता है, पर मनन हो नहीं पाता। जानता है, पर जाना नहीं जाता, अदृष्ट: द्रष्टा, अश्रुत: श्रोता, अमत: मंता, अविज्ञात: विज्ञाता। न अन्य: अत: अस्ति द्रष्टा, न अन्य: अस्ति मंता, न अन्य: अस्ति विज्ञाता। उससे भिन्न कोई द्रष्टा, श्रोता, मंता, विज्ञाता है ही नहीं। केवल वही है। उससे भिन्न सब कुछ नश्वर है।''

आरुणि अवाक् रह गया। ❑

लाल मिट्टी

एक वृक्ष ने एक आदमी से कहा, ''मेरी जड़े लाल मिट्टी में दूर तक गई हैं और तभी तो मुझमें तुम्हें फल देने की सामर्थ्य है।''

उस आदमी ने वृक्ष से कहा, ''देखो न, हमारे बीच कितना समता है, मेरी जड़ें भी तो लाल मिट्टी के गर्भ में दूर तक गई हुई है और जो लाल मिट्टी तुम्हें फलदान की शक्ति देती है, वही मुझे कृतज्ञ भाव से फल ग्रहण करने की शिक्षा देती है।'' ❑❑❑

पितरि प्रीतिमापन्ने प्रियंते सर्व देवता

दिगम्बर ठाकुर

मनुष्य की इच्छाओं की परिसमाप्ति मृत्यु से होती है। मृत्यु परम सत्य है। प्राण वायु के निकल जाने पर शरीर निराधार वृक्ष की भांति गिर जाता है और जब शरीर से जीवात्मा बाहर निकलती है तो कोई भी मनुष्य अपने चर्मचक्षुओं से उसे देख नहीं सकता तथा यही जीवात्मा अपने शुभ या अशुभ कर्मों को भोगने के लिए अंगुष्ठमात्र का सूक्ष्म शरीर धारण करता है ''अंगुष्ठ मात्रः पुरुषो हाहा कुर्वन् कलेवरात्'' (गरुड़ पुराण)

इस अतींद्रिय शरीर से ही जीवात्मा अपने द्वारा किए शुभ कर्म या अशुभ कर्म के फल स्वरुप सुख या दुख को भोगता है तथा इसी सूक्ष्म शरीर से पाप करने वाले मनुष्य यममार्ग की यातनाएं भोगते हुए यमराज के पास पहुंचता है एवं धर्मज्ञ मनुष्य प्रसन्नतापूर्वक सुख-भोग करते हुए धर्मराज के पास जाते हैं। साथ ही यह बात ध्यान देने योग्य है कि केवल मनुष्य ही मृत्यु के पश्चात् सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) शरीर धारण करता है और इस शरीर को यमदूतों के द्वारा यममार्ग से यमराज के पास ले जाया जाता है। पापी पुरुष को यमदूत दक्षिण मार्ग से एवं धर्मात्मा पुरुष को पूर्व उत्तर एवं पश्चिमी मार्ग से ले जाते हैं। अन्य प्राणियों को नहीं क्योंकि अन्य प्राणियों को यह सूक्ष्म शरीर नहीं मिलता है। वह तो तत्काल ही दूसरी योनियों में जन्म पाते हैं। पशु पक्षी आदि तिर्यक् योनियों के प्राणी की मृत्यु के पश्चात वायुरूप में विचरण करते हुए पुनः किसी योनी-विशेष में जन्म ग्रहण हेतु उस योनि के गर्भ में आते हैं केवल मनुष्य को अपने शुभ और अशुभ कर्मों का अच्छा बुरा परिणाम इहलोक और परलोक में भोगना पड़ता है।

मनुष्याः प्रतिपद्यन्ते स्वर्गं नरक मेव च।
नैवान्ये प्राणिनः केचित् सर्वं थे फल भोगिनः।।
शुभानामशुभानां वा कर्मणां भृगुनन्दन।
सञ्चयः क्रियते लोके मनुष्यैरेव केवलम्।।
तस्मान् मनुष्यस्तु मृतो यमलोकं प्रपद्यते।
नान्यः प्राणी महाभाग फलयोनौ व्यवस्थितः।। (विष्णु धर्मोत्तर)

पुन्नामक नरक से जो पुत्र अपने माता-पिता को उवारता है वही पुत्र कहलाने योग्य होता है। अतः अपने शास्त्रों के अनुसार पुत्र-पौत्रादि का यह कर्तव्य होता है कि वह अपने माता-पिता तथा पूर्वजों के निमित्त श्रद्धापूर्वक कुछ ऐसे शास्त्रोक्त कर्म करें, जिससे उन मृत प्राणियों को परलोक में अथवा अन्य योनियों में भी सुख की प्राप्ति हो सके।

इसलिए सनातन धर्म में पितृऋण से मुक्त होने के लिए अपने माता-पिता तथा परिवार के मृत प्राणियों के लिए श्राद्ध करने की अनिवार्य आवश्यकता बताई गई है। श्राद्ध कर्म को पितृकर्म या पितृपूजन भी कहते हैं। पितृकर्म में वाक्य एवं क्रिया की शुद्धता मुख्य रूप से आवश्यक होती है। यथा- ''पितरो वाक्यमिच्छन्ति भावमिच्छन्ति देवता'' अर्थात पितर वाक्य और क्रिया शुद्ध होने पर पूजन स्वीकार करते हैं जबकि देवता भावना के प्रबल होने पर। क्रिया तथा वाक्य में त्रुटि हो जाए तो भी देवता प्रसन्न होकर अपने

भक्त का पूजा स्वीकार कर मन इच्छित फल प्रदान करते हैं। अत: पितृकर्म में देव कर्म की अपेक्षा अधिक सावधानी की आवश्यकता होती है।

पितृ पक्ष और श्राद्धकर्म सनातन धर्म में मनुष्यों को अपने पूर्वजों के प्रति सम्मान और कृतज्ञता व्यक्त करने का एक अभिन्न अंग माना गया है।

पितृपक्ष-जिसे श्राद्ध पक्ष भी कहा जाता है पंचांग के अनुसार भाद्र मास की पूर्णिया से लेकर आश्विन मास की अमावस्या तक की सोलह दिवसीय अवधि को पितृपक्ष कहा जाता है। इस कालावधि में हमारे पूर्वजों (पितरों) को याद करने, उनके प्रति आभार व्यक्त करने और उनकी आत्मा की शांति के लिए तर्पण एवं श्राद्ध करने के लिए समर्पित है।

पितर-पौराणिक कथा के अनुसार जब सृष्टिकर्ता ब्रह्मा जी ने सृष्टि की रचना की तब उन्होंने अपने मानस पुत्रों (जैसे मरीचि, अत्रि, अंगिरा आदि) को भी उत्पन्न किया महर्षि अत्रि के पुत्र पितर कहलाते हैं।

पितरों का स्वरूप-पितर दिव्य लोकों में वास करने वाली आत्माएं हैं। वे देवताओं से भिन्न है और उन्हें पितृदेव भी कहा जाता है। ये हमारे पूर्वज हैं जिन्होंने एक निश्चित आयु पूरी करके धर्मपरायण जीवन व्यतीत किया। मृत्यु के उपरांत वे पितृलोक में निवास करते हैं और अपने वंशजों से श्राद्ध (श्रद्धया पितृन् उद्देश्य विधिना क्रियते यत्कर्म तत् श्राद्धम्) के रूप में भोजन और जल तर्पण की अपेक्षा रखते हैं।

महर्षि अत्रि ने श्राद्ध की विधि और उसके महत्व का ज्ञान अपने पिता ब्रह्मा जी से प्राप्त कर सर्वप्रथम अपने पितरों का श्राद्ध संपन्न किया। पश्चात इसका ज्ञान अन्य ऋषियों को दिया। कुछ मान्यताओं में महर्षि अत्रि के पुत्र निमी ऋषि का भी वर्णन आता है जिन्होंने इस परंपरा को आगे बढ़ाया। महाभारत के अनुशासन पर्व में पितामह भीष्म ने युधिष्ठिर को श्राद्ध के महत्व ,उसकी विधि और उसे प्राप्त होने वाले पुण्य फलों के बारे में बताया है।

कुंडली में बन रहे पितृ दोष एवं निवारण-ज्योतिष शास्त्र के अनुसार सूर्य आत्मा और पूर्वजों का प्रतिनिधित्व करता है। जब सूर्य राहु, केतु ,शनि या मंगल जैसे ग्रहों से पीड़ित होता है तो पितृदोष लगता है। जन्म कुंडली में पंचम भाव (संतान भाव) और नवम भाव (धर्म और पितरों का भाव) पर अशुभ ग्रहों (राहु, केतु, शनि एवं मंगल) का प्रभाव पड़ता है तो पितृ दोष का कारण बनता है अन्य ग्रहों की स्थिति में यदि पंचम भाव का स्वामी कमजोर हो या छठे, आठवें या बारहवें में भाव में स्थित हो ,जब कुंडली में सूर्य और चंद्रमा दोनों पीड़ित हो तब कुंडली में पितृ दोष बनता है।

अन्य कारण-पितरों के लिए किए गए श्राद्ध तर्पण या अन्य पूजा पाठ सही समय पर ना करना, किसी पूर्वज का अंतिम संस्कार विधि विधान से ना हुआ हो, पूर्वजों द्वारा किए गए ऐसे पाप जो बिना प्रायश्चित के रह गए हो। इन सभी अवस्थाओं में कुंडली में पितृदोष लगता है। पितृदोष से मुक्ति पाने के लिए पुत्र पुत्रों को चाहिए कि अपने पूर्वजों के मृत्यु तिथि पर पार्वणश्राद्ध या त्रिपिंडी श्राद्ध या उनके निमित्त कुछ धार्मिक कार्य करें।

पिता धर्म: पिता स्वर्ग: पिता हि परमं तप:।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रियंते सर्व देवता:।।

❑❑❑

दीक्षा

पं. दिगम्बर ठाकुर

प्राचीन काल में मनुष्य की दीर्घायु के हिसाब से उपासना पद्धति का स्वरूप विस्तृत और कठिन था, किंतु कलिकाल में मनुष्य की अल्पायु होने के कारण पूर्व ऋषि-महर्षियों ने शीघ्र फल देने वाली उपासना पद्धति का संक्षिप्त स्वरूप का निर्माण किया। उपासना पद्धति में भी वैदिक पद्धति का अनुष्ठान कठिन और अधिक द्रव्य-साध्य तथा इसका सभी वर्णों को अधिकार न होने के कारण यह अधिकार की दृष्टि से सब के काम की वस्तु नहीं है। जिन लोगों को इसका अधिकार है वे भी इसके यथार्थ मंत्रोच्चारण और स्वरादि से अपरिचित होने के कारण पूर्णतया लाभान्वित नहीं हो पाते हैं। इसलिए वैदिकमंत्रों में सर्वसाधारण की योग्यता तथा अधिकार के अभाव से उन लोगों के अभीष्ट कल्याणसिद्ध्यर्थ भगवान शंकर ने 'आगम-शास्त्र' का निर्माण कर दीक्षा का विशेष विधान प्रदर्शित किया। दीक्षा श्रुति स्मृति तथा सदाचार के साथ-साथ भक्ति और मुक्ति दोनों को देने वाली है। इसका अधिकार सभी वर्णों तथा स्त्री जाति तक को है।

दीक्षा का रहस्य अति गंभीर होते हुए भी प्राणी मात्र के लिए विविध गतिविधि से शास्त्र में वर्णित है। राजा हो या रंक दीनहीन हो या धन कुबेर प्रत्येक प्राणी के अनन्त कल्याण को प्रदान करने का जो अधिकार दीक्षा को प्राप्त है, वह जगत के किसी अन्य पदार्थ को नहीं है। इसलिए वेद भी इसका गायन करते हैं यथा-

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते।।

(शुक्ल यजुर्वेद)

गुरु सेवारूपी व्रत के धारण करने से मनुष्य दीक्षा को प्राप्त करता है अर्थात दीक्षा का वह अधिकारी बनता है। दीक्षा से दक्षिणा की प्राप्ति होती है। दक्षिणा से श्रद्धा की प्राप्ति होती है और श्रद्धा से सत्यता की प्राप्ति होती है।

ऋतं वा दीक्षा, सत्यं दीक्षा, तस्माद्दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्। (ऐतरेय ब्राह्मण)

दीक्षा ही ऋत है, सत्य ही दीक्षा है अतः दीक्षित व्यक्ति को सर्वदा सत्य ही बोलना चाहिए।

दीक्षा की प्रथा-दीक्षा की प्रथा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। यह प्रथा केवल 'हिंदू-समाज' में ही नहीं अपितु संसार के सभी धर्म और संप्रदायों में किसी न किसी रूप में प्रचलित है। जातिभेद पंथभेद तथा धर्म भेद से समस्त समाज में गुरु-दीक्षा-ग्रहण-विधि में भले ही भिन्नता हो किंतु सिद्धांत सबका एक ही है।

आध्यात्मिक जीवन पथ पर आनंद, आनंद से परमानंद, परमानंद से ब्रह्मानंद की ओर बढ़ने के लिए दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक है। वास्तव में जीव शक्ति से उसी तरह अभिन्न है जैसे दर्पण में एक बिम्ब का प्रतिबिंब होता है। वह शक्ति जीवों में प्राण के रूप में निवास करती है। जीव के नित्य स्वरूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए आत्मतत्व का अपरोक्ष ज्ञान गुरु से प्राप्त करता है। जिस विधि के द्वारा गुरु शिष्य को

यह अपरोक्ष ज्ञानदान करते हैं, वह विधि दीक्षा कहलाता है।

गुरुद्वारा शिष्य को आध्यात्मिक दीक्षा देना या गुरु के सानिध्य में प्राप्त शिक्षा का समापन। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें गुरु अपनी आध्यात्मिक ऊर्जा शिष्य को हस्तांतरित करते हैं, जिससे शिष्य का आंतरिक ज्ञान जागृत होता है, पापों का समूह नष्ट होता है और आध्यात्मिकता की राह पर आगे बढ़ता है।

दीक्षामूलं जगत्सर्वं दीक्षामूलं परं तपः।

दिव्याज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात्पापस्य संक्षयम्।।

अर्थात-यह संपूर्ण जगत् दीक्षा-मूलक हैं, दीक्षा मूलक ही उत्कृष्ट तप है। क्योंकि दीक्षा ही दिव्यज्ञान को देने वाली है और यही समस्त पाप को नाश करने वाली है।

यथा काञ्चनतां याती कांस्य रसविधानतः।

तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्त्वं जायते नृणाम्।।

अर्थात जिस प्रकार रस की विधि से कांसा स्वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार दीक्षा ग्रहण करने से मनुष्य को द्विजत्त्व की प्राप्ति होती है।

शास्त्र के अनुसार दीक्षा दो प्रकार की है-बाह्य दीक्षा और आन्तर दीक्षा। बाह्य दीक्षा का नाम क्रिया दीक्षा भी है और अंतर दीक्षा का नाम वेधदीक्षा। दीक्षा प्रसंग में पंचमहाभूतों की आवश्यकता होती है। पूर्व में जो बाह्य दीक्षा कहा गया, उसे पृथ्वी और जल के उपकरण स्थल में समझना चाहिए किंतु भीतर वाली दीक्षा में यह उपकरण नहीं होता है। इसके बदले अग्नि, वायु, आकाश और मन की आवश्यकता होती है। तेज-संचार के द्वारा उक्त दीक्षा संपन्न होती है जिसका नाम चाक्षुषी दीक्षा या दृष्टिदीक्षा है। करण गुरु की करुणापूर्ण दृष्टि से निर्गत तेजो विशेष के द्वारा यह दीक्षा संपन्न होती है। इसी प्रकार वायु के द्वारा जो दीक्षा कार्य निष्पन्न होता है, उसका नाम स्पर्श दीक्षा है। स्पर्श वायु का धर्म है। शब्द आकाश का धर्म है। अतएव आकाश के द्वारा जो शब्द निष्पन्न होता है, उसे शाब्दिक दीक्षा कहते हैं। मंत्र दीक्षा इसी के अंतर्गत आता है। मन के द्वारा दीक्षा-कार्य संपादन होने पर इसे ध्यान दीक्षा कहा गया है। चाक्षुषी दीक्षा से स्पर्श दीक्षा सूक्ष्म होती है। स्पर्श दीक्षा शब्द दीक्षा से सूक्ष्म होती है और शब्द दीक्षा से मानसिक दीक्षा सूक्ष्म होती है। क्रिया दीक्षा में होमादि बाह्य क्रियाओं की आवश्यकता होती है, किंतु सूक्ष्म दीक्षा में उसकी आवश्यकता नहीं होती है। चाक्षुषी दीक्षा गुरु के द्वारा शिष्य के प्रति दृष्टिनिक्षेप से ही प्रकट हो जाती है।

स्वपत्यानि यथा मत्स्योह्य भीक्षणेनैव पोषयेत्।

दृग्भ्यां दीक्षोपदेशश्च तादृशः परमेश्वरी।। (कुलार्णव)

मछलियां जिस प्रकार अंडों की ओर दृष्टिपात कर उन्हें प्रस्फुटित कर देती है और उनमें प्रकट संतानों को दृष्टि के द्वारा पोषण करती है, ठीक उसी प्रकार गुरु भी करते हैं। जिस प्रकार स्थल पक्षी अपने पंखों के द्वारा अंडे को सेंकती हुई उसमें से बच्चे को बाहर निकलती है एवं स्पर्श के द्वारा उसका पोषण करती है इसी तरह स्पर्श दीक्षा में गुरु अपने हाथ से शिष्य के देह के अंगविशेष को स्पर्श करते हुए उसका संसार से उद्धार करते हैं। मानसी-दीक्षा में गुरु केवल ज्ञान का सहारा लेकर दीक्षा दान करते हैं। मादा कछुआ जिस प्रकार स्वयं पानी में रहते हुए तट-स्थित मिट्टी के भीतर रखें अपने अंडों को केवल मानसिक चिंतन के द्वारा प्रस्फुटित करती है, यह भी अनेक अंशों में इस तरह का है।

दर्शनात् स्पर्शात् शब्दात् कृपया शिष्यदेहके।

जनयेत यः समावेशं शाम्भवं से हि देशिकः।। (योगवशिष्ठ)

अर्थात जो दृष्टि के द्वारा अथवा शब्द के द्वारा कृपापूर्वक शिष्य की देह में शिवावेश उत्पादन करने में समर्थ होते हैं, वही वास्तविक गुरु हैं। इस स्थूल का मूल है-कृपा। इसके बाद दर्शन, स्पर्श और शब्द यह तीनों कृपा के प्रयोगभेद मात्र हैं।

दीयते विमलं ज्ञानं क्षीयते कर्मवासना।

तेन दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः।।

जो विमल ज्ञान को प्रदान करती है और कर्म वासना को क्षीण करती है, अतएव तंत्रवेता मुनिगण इसे दीक्षा कहते हैं।

ददाति शिवतादात्म्यं क्षिणोति च मलत्रयम्।

अतोदीक्षेति सम्प्रोक्ता दीक्षातन्त्रार्थवेदिभिः।।

दीक्षा शिवा-तादात्म्य को प्रदान करती है और तीनों मलों का नाश करती है, अतः दीक्षातंत्र के अर्थ को जानने वाले इसे दीक्षा कहते हैं।

आज के युग में गुरुओं की भरमार है किंतु सद्विचारशील सद्गुरु का मिलना प्रायः अत्यंत कठिन हो गया है। आधुनिक गुरुओं का सुंदर चित्रण यों मिलता है-गुरवो वहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः। दुर्लभः सद्गुरुर्देव! शिष्यसन्तापहारकाः।। ❑❑❑

शरीर और आत्मा

एक पुरूष और स्त्री झरोखे में बैठे हुए वसन्त-श्री का आनन्द ले रहे थे। वे एक-दूसरे से बिल्कुल सटकर बैठे थे। वह स्त्री बोली, ''मैं तुमसे प्रेम करती हूँ। तुम रूपवान हो, धनवान हो और सदा सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित रहते हो।''

पुरूष बोला, :: मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। तुम एक सुन्दर कल्पना हो। एक ऐसी सूक्ष्म वस्तु हो, जो हाथ से नहीं पकड़ी जा सकती। तुम मेरे स्वप्नों में झंकृत होनेवाला सुमधुर संगीत हो।''

किन्तु उस स्त्री ने खीजकर अपना मुँह फेर लिया और कहा, ''रहने दीजिए, जनाब! मैं कल्पना नहीं हूँ। तुम्हारे स्वप्नों में आने-जानेवाली वस्तु नहीं हूँ। मैं स्त्री हूँ। मैं चाहती हूँ कि तुम मुझे अपनी पत्नी और अपने भावी शिशु की माँ के रूप में ग्रहण करो।''

वे दोनों अलग हो गए।

पुरूष ने अपने मन में कहा, '' फिर एक सपना अन्धकार बन गया।''

दूसरी ओर स्त्री ने कहा, ''अच्छा हुआ, ऐसे आदमी का क्या ठिकाना, जो मुझे अन्धकार और स्वप्न बना डालना चाहता है।''

❑❑❑

शास्त्र वर्णित अमृत वितरण का साक्षी है पटोरी अनुमंडल का कृमिला गंगा संगम

प्रो. अवधेश कुमार झा
विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग
के एस आर महाविद्यालय
सरायरंजन, समस्तीपुर

शास्त्र वर्णित समुद्र मंथन का साक्षी बिहार प्रदेश है। वहीं अमृत वितरण का साक्षी पटोरी अनुमंडल स्थित कृमिला गंगा संगम है। विभिन्न शास्त्रों में देव और दानवों के द्वारा समुद्र मंथन का वर्णन है। यह समुद्र मंथन कहां हुआ था, इसका स्थान स्पष्ट नहीं था। इसीलिए नहीं था कि यह घटना आर्यावर्त या हिंदुस्तान में ही हुई थी। लेकिन आर्यावर्त या हिंदुस्तान में भी किस जगह समुद्र मंथन हुआ, इसका साक्षात प्रमाण वर्तमान बिहार है। समुद्र मंथन में प्रयुक्त मंदराचल पर्वत अभी भी बांका जिला में अवस्थित है। उसी की याद में अब भी वहां मंदार महोत्सव मनाया जाता है। समुद्र मंथन में रस्सी बने वासुकी नाग का निवास स्थान वासुकी से बौंसी पर्वत अभी भी भागलपुर में अवस्थित है। वासुकीनाथ पहले बिहार में थे, अब झारखंड में चले गए हैं। इससे साबित हो गया की समुद्र मंथन बिहार में ही हुआ था। महाप्रलय के बाद हिमालय से दक्षिण का सारा क्षेत्र समुद्र मय था। कराल जनक के पुरोहित गौतम रहूगन ने यज्ञ के द्वारा अग्नि प्रकट कर जल का अवशोषण कर कृषि योग्य भूमि बनाया। इसके बाद भी समुद्र ही था। देवताओं की तेजस्विता प्राप्त करने के लिए अमृत प्राप्ति हेतु किये गये समुद्र मंथन और समुद्र मंथन स्थल तथा अमृत वितरण स्थल की खोज के क्रम में दरभंगा में मिले प्राचीन भोजपत्र पर रुद्रयाममल ग्रंथ की टीका में शिव पार्वती संवाद के रूप में रूद्रयामलोक्तामृतिकरण प्रयोगह् के रूप में एक सौ पचपन श्लोकों में वर्णित शिव पार्वती संवाद में

पार्व्युवाच
कस्मिन देशे कथं देव पुरा सागर मंथनम्।
किं, किं, निसृतन्तस्मात्कदा च वद प्रभो।
के रूप में स्पष्ट वर्णन है कि मंदराचल के पार्श्व में समुद्र मंथन हुआ
मन्दारस्य गिरे पार्श्वे पुरा सिन्धुर्बभूव हा।
जाह्नवी चापि तत्रैव संगता सागरं प्रति।

इस प्रकार समुद्र मंथन का स्थान निश्चित हो गया। समुद्र मंथन के दौरान सबसे अंतिम रत्न के रूप में अमृत प्राप्त हुआ था। अमृत को लेकर देव और दानवों में छीना झपटी हुई थी। इस छीना झपटी में जहां-जहां अमृत की बूंद गिरी, वहां वहां कुंभ लगता है। फिर अंत में विष्णु रूपिणी मोहिनी के द्वारा दानवों को मोहित कर अमृत कलश प्राप्त कर अमृत वितरण किया गया था। अब यह अमृत वितरण का स्थान कौन सा था। रुद्रयामल तंत्र में माता पार्वती भगवान शिव से पूछती हैं, कि समुद्र मंथन कहां हुआ

था और अमृत वितरण कहां हुआ था। भगवान शिव द्वारा जब समुद्र मंथन का स्थान बतला दिया गया। तब माता पार्वती ने अमृत वितरण के स्थान के संबंध में पूछा। सब भगवान शिव ने बतलाया कि समुद्र मंथन से निकले तेरह रत्नों के पश्चात् धन्वंतरि के हाथों में अमृत लेकर प्रकट होते ही, विष्णु प्रसन्न हुए। भगवान विष्णु को प्रसन्न देखकर दैत्य राजा बली को आशंका हुई कहीं देवता अमृत ले तो नहीं लेंगे। यही सोचकर धनवंतरी के हाथों से अमृत का कलश झपटकर उत्तर दिशा की ओर दानवों के साथ भागे। भागते-भागते अजगैबीनाथ पहुंचे। गंगा को पी जाने वाले ऋषि को देखते ही, सारे दानव फिर वापस गंगा के दक्षिणी किनारे होकर पश्चिम दिशा की ओर भागते हुए मुद्‌गर ऋषि के आश्रम अर्थात् मुंगेर पहुंचे। मुद्‌गर ऋषि के आश्रम में फिर से ऋषि को देखकर सारे दानव अमृत लेकर दक्षिण से गंगा के उत्तरी किनारे आकर पश्चिम की ओर भागते हुए, शाल्मली वन में आकर रुके। संस्कृत में शाल्मली को हिंदी में सेमर या सिमर कहते हैं। शाल्मली या सिमर के सघन वन के कारण वह स्थान सिमर से सिमरिया कहलाता है। विष्णु रूप मोहिनी ने वहीं प्रकट होकर दानवों के हाथों से अमृत लेकर रात्रि में अत्यंत पावन कर्म, अमृत पान को निषेध बताते हुए वहीं स्थापित किया। इस प्रकार अमृत की स्थापना से, स जोड़ अमृत से सामृता सिमृया या सिमरिया कहलाया। वहीं पर विष्णु रूप मोहिनी ने देवताओं को पहले अमृत पिलाया। इसी समय देवताओं के बीच में राहु ने अमृत पीकर विष्णु के हाथ से अपना सिर कटा कर राहु केतु बन गया। वर्तमान बेगूसराय जिला स्थित सिमरिया गंगा तट के आसपास के क्षेत्रों के नामों से इस घटना की पुष्टि होने के साथ ही, यह अमृत वितरण स्थल का अभी भी साक्षी है। जैसे समुद्र मंथन में निकले ऐरावत हाथी के रखने का स्थान हाथी दह,सिमरिया के बगल में स्थित है। इसी प्रकार जहां से भगवान विष्णु ने राहु पर चक्र चलाया, वह स्थान चक्र से चक्रिया या चकिया, सिमरिया से बिल्कुल सटे बगल में अवस्थित है। जहां राहु का सर विहत हुआ, वह स्थान अभी भी विहत से बिहट या बीहट कहलाता है। इसी प्रकार सिमरिया के आसपास के दर्जनों स्थानों के नाम, इस घटना के साक्षी के रूप में आज भी प्रमाण दे रहे हैं। जब अमृत वितरण के बाद भगवान विष्णु ने अमृत वितरण करने वाले चमस को फेंका वह गंगा नदी के जिस किनारे जाकर गिरा, वह चमस जहां गिरा, वह स्थान चमस या चमसा से चमथा के रूप में आज भी अवस्थित होकर उस घटना की साक्षी दे रहा है। ये सारे प्रमाण उस घटना के लाखों करोड़ों वर्षों से आज भी साक्षी दे रहे हैं। रूद्र यामल तंत्र में माता पार्वती, भगवान शिव से पूछती हैं कि अमृत वितरण स्थली के चारों ओर के स्थान के रूप में क्या प्रमाण हैं। इस पर भगवान शिव अमृत वितरण स्थल सिमरिया धाम की निध ीरित चौहद्दी बतलाते हुए कहते हैं कि अमृत वितरण स्थल सिमरिया के पूर्व में मुद्‌गर ऋषि का आश्रम अवस्थित है, अर्थात मुंगेर अवस्थित है। उत्तर में भगवती जय मंगला का स्थान आज भी सिमरिया धाम के उत्तर में जयमंगला स्थान लाखों करोड़ों वर्षों से अवस्थित है। दक्षिण में भगवती त्रिपुर सुंदरी महामाया का स्थान बरहिया में अभी भी अवस्थित है। पश्चिम में कृमिला गंगा संगम अवस्थित है। इस कृमिला या कमला नदी के तट पर भगवती कमला देवी का स्थान अवस्थित है

ततह् पश्चिम दिग्भागे कृमिला गांग संगमह्।
कृमिलायाह् पूर्व तटे देव्या रम्यन्तु मन्दिरम्।।

सिमरिया गंगा तट से पश्चिम की ओर जिस नदी का संगम गंगा से होता है वह वर्तमान मोरवा और सराय रंजन प्रखंडों से गुजरने वाली नून नदी या वरुणा नदी से निकलने वाली कृमि युक्त कृमिला, कमला नदी जिसके तट पर बारहवीं शताब्दी में भगवती गंगा और कमला के भक्त बाबा केवल महाराज के समय भी भगवती कमला का मंदिर अवस्थित था, और आज भी अवस्थित है। रुद्रयामल तंत्र वर्णित पश्चिमी चौहद्दी के अनुसार तब भी नदी तट पर कमला मंदिर अवस्थित था। और उस घटना के लाखों करोड़ों वर्षों बाद आज भी कमला मंदिर अवस्थित है। यहां से गुजरने वाली कृमिला या कमला नदी वर्तमान मोहिउद्दीन नगर के भोरहा बांध होते हुए गंगा नदी से मिलकर कृमिला गंगा संगम को सार्थक कर, उस महान घटना की साक्षी बनी हुई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पटोरी अनुमंडल, मोहिउद्दीन नगर होते हुए कृमिला गंगा संगम, समुद्र मंथन के बाद अमृत वितरण स्थल के चौहद्दी के रूप में उस महान घटना का साक्षी है।

❑❑❑

आज और कल

मैंने अपने मित्र से कहा, "देखो, वह उस व्यक्ति के बाहुओं पर किस तरह झुकी हुई है। कल वह इसी प्रकार मेरी बाहुओं पर झुक रही थी।''

और मेरे मित्र ने कहा, "कल वह मेरी बाहुओं पर भी इसी प्रकार झुक रही होगी।''

मैंने कहा, "देखो, किस तरह वह उस व्यक्ति से बिल्कुल सटकर बैठी है? कल ही वह मेरे पास इसी प्रकार बैठी हुई थी।''

और उसने उत्तर दिया, 'देख लीना, कल वह मेरे पास होगी।' मैंने कहा, 'देखो न, आज किस तरह वह उसके हाथ से मदिरापान कर रही है। कल ही तो मेरा प्याला उसके अधरों पर था।'

वह बोला, "और कल मेरा प्याला वहाँ होगा।''

तब मैंने कहा, "देखो, वह उस व्यक्ति को कैसी प्रेमभरी दृष्टि से देख रही है और जरा उसकी आँखों में समर्पण की भावना तो देखो। कल इसी प्रकार वह मेरी ओर देख रही थी।''

और मेरे मित्र ने कहा, "कल उसकी दृष्टि मेरी ओर होगी।''

मैंने पूछा, "सुनो, वह अपने प्रेमी को कैसे प्रेम-भरे गीत सुना रही है। कल ये गीत उसने मुझे सुनाए थे।''

और मेरे मित्र ने उत्तर दिया, "कल ये ही गीत वह मुझे सुनाएगी।'' मैंने कहा, "देखो तो सही, वह उसका आलिंगन कर रही है। यही आलिंगन कल मेरे लिए था।''

मेरे मित्र ने कहा, "कल यही आलिंगन मेरे लिए होगा।''

तब मैंने कहा, "कैसी विचित्र स्त्री है!''

लेकिन उसने उत्तर दिया, 'वह जीवन की तरह सबकी होकर रहती है, मृत्यु की तरह सब पर हावी रहती है और अनन्त काल के समान सबको अपने गर्भ में समेट लेती है।''

❑

क्या बागमती नदी ही सरस्वती नदी थी? - एक शोधपरक विवेचना

मीरा झा
अन्नपूर्णा कुंज, मुसरीघरारी

भूमिका

भारतीय संस्कृति की जड़ें वेदों में निहित हैं, और उन वेदों में सरस्वती नदी का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद में सरस्वती को 'नदीनां मात:' अर्थात् नदियों की जननी कहा गया है। किंतु समय के साथ यह नदी विलुप्त हो गई और इसके वास्तविक प्रवाह की खोज आज तक विद्वानों को आकर्षित करती रही है। हाल के दशकों में कई इतिहासकारों और भूगोलवेत्ताओं ने यह तर्क दिया है कि बिहार की बागमती नदी, जो नेपाल से निकलकर मिथिला और उत्तर बिहार से बहती हुई गंगा में मिलती है, संभवतः उसी प्राचीन सरस्वती नदी का रूपांतरण हो सकती है।

भौगोलिक साक्ष्य

बागमती नदी का उद्गम नेपाल के बागद्वार (शिवपुरी पर्वत) से माना जाता है। यह उत्तर से दक्षिण दिशा में बहती हुई दरभंगा, समस्तीपुर, मुजफ्फरपुर होते हुए गंगा में समाहित होती है। यदि वेदों में उल्लिखित सरस्वती के वर्णन पर दृष्टि डालें तो उसमें भी ऐसी ही विशेषताएँ मिलती हैं- उत्तर के पर्वतीय क्षेत्र से निकलकर दक्षिण में मैदानी भागों को सिंचित करना, बहुवाही स्वरूप रखना तथा जल को ज्ञान और जीवन का प्रतीक बताना।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण

कुछ विद्वानों का मानना है कि सरस्वती नदी का प्रवाह कालान्तर में भूगर्भीय परिवर्तनों के कारण बदल गया। हिमालय क्षेत्र में हुई भूकंपीय गतिविधियों से इसका मार्ग परिवर्तित हो गया और इसका जलप्रवाह कई शाखाओं में विभाजित हो गया। संभव है कि उन्हीं में से एक शाखा पूर्व की ओर मुड़कर वर्तमान बागमती नदी के रूप में बहने लगी हो।

मिथिला के प्राचीन ग्रंथों, विशेषकर विद्यापति और जनक कालीन साहित्य में जिस पवित्र नदी का उल्लेख "सरस्वती स्वरूपा" के रूप में हुआ है, वह बागमती के आसपास के भूभाग से जुड़ा है। इससे भी इस संबंध की संभावना बलवती होती है।

सांस्कृतिक एवं धार्मिक साक्ष्य

बागमती नदी के तट पर अनेक तीर्थस्थल एवं ऋषि-आश्रम विद्यमान हैं, जिनमें प्राचीन वैदिक परंपरा की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। सिमरिया, जनकपुर, और कल्याणी जैसे क्षेत्रों में होने वाले वैदिक अनुष्ठान इस बात के संकेत देते हैं कि यह नदी केवल भौगोलिक ही नहीं, बल्कि आध्यात्मिक दृष्टि से भी वैदिक सभ्यता की वाहक रही है।

स्वामी चिदात्मन जी महाराज जैसे आधुनिक संतों ने भी अपने प्रवचनों में यह मत रखा है कि "सरस्वती नदी का प्राचीन स्वरूप आज की बागमती में देखा जा सकता है"। उन्होंने सिमरिया क्षेत्र को "कुंभ की जननी भूमि" बताते हुए यह भी प्रतिपादित किया कि प्राचीन काल में यह भूमि सरस्वती सभ्यता की पवित्र धरा रही होगी।

वैज्ञानिक एवं पुरातात्त्विक संकेत

हाल में किए गए भूगर्भीय सर्वेक्षणों में भी यह पाया गया है कि उत्तर बिहार के भूभाग में कई ऐसे सूखे नदी-पथ (Paleochannels) हैं जो प्राचीन नदी के मार्ग का संकेत देते हैं। इससे यह संभावना बल पाती है कि बागमती का कोई प्राचीन रूप संभवत: सरस्वती नदी के प्रवाह का अवशेष हो सकता है।

निष्कर्ष

यह सत्य है कि सरस्वती नदी की पहचान पर विद्वानों के बीच अभी पूर्ण सहमति नहीं है। कुछ इसे हरियाणा और राजस्थान क्षेत्र की घग्गर-हकरा नदी से जोड़ते हैं, तो कुछ पूर्व की ओर बिहार की बागमती या कमला नदियों से। परंतु उपलब्ध भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं वैदिक संकेतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बागमती नदी में सरस्वती की स्मृति आज भी प्रवाहित है।

यह केवल एक नदी नहीं, बल्कि भारत की वैदिक चेतना की प्रतीक धारा है- जो ज्ञान, पवित्रता और संस्कृति की निरंतरता को दर्शाती है।

संक्षेप में

"जहाँ-जहाँ वैदिक वाणी गूँजती है, वहीं सरस्वती बहती है; और जहाँ वह नदी आज भी जीवन को संस्कारित करती है-वह बागमती के रूप में हमारे बीच विद्यमान है।"

गुरु वंदना

मुझे दास बनाकर रख लेना
गुरुदेव तू अपने चरणों में -2
गुरुदेव तू अपने चरणों में
भगवान तू अपने शरणों में
मुझे दास बनाकर रख लेना
गुरुवर 2
जब अधम से अधम को तारा है-2
उसमें भी नाम हमारा है-2
उसमें भी नाम हमारा है
मुझे चाकर जान के रख लेना-2
गुरुदेव तु अपने चरणों मे
मुझे दास बनाकर रख लेना
गुरुदेव ....
भगवान तू अपने शरणों में
मैं भला बुरा हूँ तेरा हूँ-2
तेरे द्वार डाला डेरा हूँ -2
मुझे भार समझकर रख लेना-2
गुरुदेव ...
भगवान ....
मुझे दास बना कर रख लेना
गुरुदेव तू अपने शरणों में-2

प्रस्तुति- कौशलेन्द्र कुमार

जब तक तृष्णा जीवित है- जो कि अविवेक, चंचल मन की दशा है- तब तक हेय और उपादेय, त्याग और ग्रहण भी जीवित है, जो कि संसाररूपी वृक्ष का अंकुर है।

प्रवृति में राग, निवृति में द्वेष पैदा होता है, इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति द्वंद्वमुक्त बालक के समान जैसा है वैसा ही रहता है।

भारतीय संस्कृतिकी मूलधारा

श्री रामनाथ जी सुमन

संस्कृति किसी देश या जाति की आत्मा है। इससे उसके उन सब संस्कारों का बोध होता है, जिनके सहारे वह अपने सामूहिक या सामाजिक जीवन श्के आदर्शोंका निर्माण करता है। यह विशिष्ट मानव समूह के उन उदात्त गुणों को सूचित करती है, जो मानव-जाति में सर्वत्र पाये जानेपर भी उस समूह की विशिष्टता प्रकट करते हैं और जिन पर उनके जीवन में अधिक जोर दिया जाता है।

अपने दीर्घ अनुभव, तप:पूत ज्ञान और चिन्तनद्वारा भारत के आत्मदर्शी ऋषि इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि आत्मानुभव, आत्मसाक्षात्कार, आत्मदर्शन ही मानव-जीवन-का परम पुरुषार्थ है। जीवन और जगत् में दो प्रकार के तत्त्व हैं। एक वह जो नित्य परिवर्तनशील है, जो प्रतिक्षण बदल रहा है; दूसरा वह जो इस परिवर्तन के मूल में है, अव्यक्त है पर उसी के कारण और उसको लेकर जगत् की सम्पूर्ण दृश्य वस्तुओं, सम्पूर्ण व्यक्त पदार्थों का अस्तित्व है। जगत् के पीछे जो यह महती अव्यक्त शक्ति है, उसका उद्‌घाटन करने और उसे अनुभव तथा धारण करने से यह ऊपर से असहाय, दुर्बल, अशक्त दिखने वाला मानव-जीवन असीम कल्याणकारी शक्ति एवं वैभव से पूर्ण हो सकता है। हमारे पीछे शक्ति का जो अमित कोष छिपा हुआ है, उसकी खोज और सिद्धि से ही मानव जीवन का आदर्श पूर्ण हो सकता है। भारतीय सामाजिक जीवन की विविध श्रेणियाँ अपनी शक्ति और मर्यादा के अनुसार इसी दिशा में, इसी गन्तव्य स्थल की ओर परिचालित की गयी थीं।

दृष्टिदोष के कारण अथवा इस संस्कृति के मूल अनुबन्ध को न समझ सकने के कारण अनेक छिद्रान्वेषी आलोचक यह आक्षेप करते हैं कि भारतीय संस्कृति स्वप्नों और कल्पनाओं की अस्थिर भूमि पर खड़ी है और जगत् की ठोस भूमि से उसका सम्बन्ध ही मिट गया है। यह सर्वथा मिथ्या धारणा है। भारतीय संस्कृति खड़ी तो इसी भूमि पर है, परंतु उसका सिर आकाश की ओर उठा है। मानव चलता जमीन पर है, पर देखता सामने या ऊपर है- उसका सिर ऊपर की ओर उठा है। भारतीय संस्कृति भी जीवन के अन्तरिक्ष को भेदकर उसके अनन्त रहस्यों को जानने के लिये विकल हुई थी। यह शुद्ध वैज्ञानिक वृत्ति थी। उसने अध्यात्मविद्या में जो उन्नति की थी, उसमें पदार्थविद्या की उपेक्षा न थी; बल्कि उसकी मूल प्रकृतिको जानने के लिये यह आवश्यक था। उसने पदार्थविद्या, शासन-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, अर्थविद्या, शरीरशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, वास्तुकला, युद्धविद्या, जनन-विज्ञान आदि भौतिक विद्याओं के क्षेत्र में कुछ कम प्रगति न की थी। वह वायु-विज्ञान की सहायता से समय और दूरी के व्यवधान पर विजय प्राप्त कर सकी थी; वह सूर्य-विज्ञान के द्वारा वस्तुओं के रूप को तुरंत बदल देने, एक जाति के पदार्थ को दूसरी जाति में बदल देने, लोहे को सोना करने और मृत्यु पर भी, एक सीमा तक, विजय प्राप्त करने में समर्थ हुई थी; उसकी समाज-व्यवस्था में व्यक्ति के विकास की सम्पूर्ण सुविधाओं के होते हुए भी समाज या समूह के अन्तिम हित की भावना प्रधान थी; उसकी अर्थविद्या समाज के शोषण का कारण न बनकर उसके संरक्षण और संवर्द्धन का साधन बन सकी थी; धनने जीवन पर प्रभुत्व न प्राप्त किया था। हठयोगियोंने शरीर

की अनेक ऐसी शक्तियों एवं शक्ति संस्थानों का पता लगाया था, जिनका ज्ञान आधुनिक शरीरशास्त्रियों को अब तक नहीं लग सका है अथवा किसी अंश में लगने पर भी वे उनका उपयोग नहीं जान पाये हैं। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं था, जो उसने अछूता छोड़ा हो। हाँ, एक बात अवश्य थी। इन सब शास्त्रों अथवा विज्ञानों कें मूल में उसी परम पुरुषार्थ या आदर्श की प्रेरणा थी। सब विद्याएँ उसी ओर प्रधावित थीं। सबका आधार वही था। जीवन का यह आध्यात्मिक आधार ही भारतीय संस्कृति की विशेषता थी।

मानव समाज में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। एक को हम केन्द्रोन्मुखी ('सेन्ट्रीपेटल') प्रवृत्ति कहते हैं और दूसरी को वृत्तोन्मुखी। पहली परिधि या वृत्त से केन्द्र-बिन्दुकी ओर जाती है; वह कहीं रहे, केन्द्र के साथ वह बँधी है, केन्द्र में ध्यानस्थ है। दूसरी वह, जो केन्द्र से परिधि की ओर जाती है। भारतीय संस्कृति अपने मूलरूप में केन्द्रोन्मुखी रही है। वह जगत् में रहकर भी आदर्शोन्मुख है; वह बाहर रहकर भी अन्तःस्थ, आत्मस्थ है। इसके विरुद्ध पाश्चात्त्य संस्कृति बाह्यप्रसारी है; वह बाहर की ओर जाती है; केन्द्र से दूर फैलने की ओर उसकी प्रवृत्ति है।

इन दो भिन्न प्रवृत्तियों से दो सभ्यताओंका जन्म हुआ है। जब प्रवृत्तियाँ मूलतः भिन्न थीं तो उनकी साधनाके रूपोंमें भी भिन्नता आयी। भारतीय संस्कृति आचरणप्रधान हुई; उसमें अन्तर्वृत्तियोंके उत्कर्षपर जोर दिया गया; उसमें समाजकी प्रत्येक इकाई या घटकसे आत्मशुद्धि की आशा पहले की गयी; उसमें व्यक्तिके जीवनको त्यागकी ओर बढ़ाया गया। क्योंकि त्याग और आत्मनियन्त्रण एवं आत्मशुद्धिके बिना संमाजके घटकोंमें सच्चे सामाजिक कल्याण की भावना तथा तदनुकूल आचरणका होना कठिन है।

इसके विरुद्ध ग्रीक या पाश्चात्त्य संस्कृति मनुष्य के सामूहिक सुधार पर अधिक जोर देती है। समाज सेवा उसका मुख्य उद्देश्य है; पर आत्मशुद्धिके मुख्य दृष्टिबिन्दुपर जोर न देनेके कारण वहाँ व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण या नीतिमें बहुत बड़ा अन्तर आ गया और धीरे-धीरे संस्कृति विकृत होकर नष्ट हो गयी। जब व्यक्ति अपने सुधार, अपने दोष निवारणकी ओरसे आँखें मूँद लेता है, अथवा अपनी चरित्रगत दुर्बलताओंकी ओरसे उदासीन हो समाज उद्धारका प्रयत्न करता है, तब सभ्यताका भ्रष्ट और विकृत होना स्वाभाविक है। इसके विरुद्ध जब समाजका प्रत्येक घटक आत्मशुद्धिपर ध्यान देता है, स्वार्थवृत्तिपर नियन्त्रण रखता है, तब सम्पूर्ण समाज अपने-आप निर्मल हो; जाता है। लड़कपन में मैंने बीरबलकी बुद्धिके चमत्कार के सम्बन्ध अनेक कहानियाँ सुनी थीं। इन्हीं में से एक कथामें कहा गया था कि एक बार बीरबलकी सलाहसे अकबरने नगरके किनारेपर तालाब खुदवाया और प्रत्येकको आज्ञा दी गयी कि रातको एक-एक घड़ा दूध उसमें छोड़ दे योजना यह थी कि एक दूधका तालाब दूसरे दिन तैयार हो जायगा। पर दूसरे दिन सुबह जब अकबर बीरबलके साथ वहाँ पहुँचे तो देखा कि तालाब जलसे पूर्ण है और दूधका नाम नहीं। बात यह थी कि प्रत्येकने सोचा कि सब तो दूध डालेंगे ही, यदि मैं एक घड़ा पानी डाल दूँगा तो उतने दूधमें क्या पता चलेगा। जहाँ व्यक्ति अपनी ओर नहीं देखता, आत्मशुद्धि से प्रेरित नहीं होता, वहाँ यही स्थिति होती है।

हमारी समाज-व्यवस्था में श्रमिकसे लेकर ज्ञानदातातक (शास्त्र की शब्दावलीमें शूद्रसे ब्राह्मणतक)

सबकी उपयोगिता थी; सब को उचित स्थान मिला था। पर क्षत्रिय और वैश्यवर्ग (अर्थात् शासन और धसत्ता) मिलकर भी ज्ञानदाता को उसके सर्वोच्च स्थान से नीचे न गिरा सके थे। जिस वर्ग में त्याग की जितनी ही क्षमता थी, उसे समाज में उतना ही ऊँचा स्थान मिला था; उसके शब्द, उसके आदेश उतने ही मान्य थे। समाजनीतिका नियन्त्रण राजा के हाथ में न था, बल्कि उन महात्माओं के हाथ में था, जो अपने सुखोपभोग की समस्त बाह्य सामग्रियों एवं सुविधाओं का त्याग करके केवल आत्म-चिन्तन तथा अपने अनुभव एवं ज्ञान से समाज के कल्याण के लिये जीते थे; जो समाज से कम-से-कम लेते थे और अधिक-से-अधिक देते थे; जिनको स्वयं किसी बाह्य सुविधा या अधिकार की आवश्यकता न थी; शासन-शक्ति के लिये भी उनके पथ-प्रदर्शन की अवहेलना सम्भव न थी। यही आत्म-बलकी प्रतिष्ठा, संसार की सम्पूर्ण शक्तियों वा शक्ति केन्द्रों के ऊपर साधुत्व, त्याग, तप की प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता रही है। समाज जीवन के आदर्शों और उच्च प्रेरणाओं के लिये ऋषियों और तपस्वियों की ओर देखता था। त्याग, न कि भोग, जीवन का आदर्श या प्राप्य था।

तब क्या हमारी संस्कृति व्यष्टिधर्मी थी? क्या उसमें समाज-धर्म के प्रति उदासीनता का भाव था? नहीं। इसे नहीं कह सकते। भारतवर्ष में इन साधनों पर साधुत्वका विषय में भी वह मानव प्रकृति में निहित सत्यों के मूल में आत्मबल का नियन्त्रण सिद्ध करता है कि हमारी संस्कृति प्रविष्ट हुई थी। समाज का मूल मनुष्य का 'स्व' है। यह केवल श्रेष्ठ थी, बल्कि व्यावहारिक दृष्टि से भी उसने श्रेष्ठ अहंता का भाव ही जीवन तथा उसकी समस्त प्रेरणाओं का उदाहरणों एवं प्रतीकों को जन्म दिया था। विद्या, धन आधार है। मनुष्य जो कुछ करता है, अपने इसी 'स्व' को और शक्ति के उचित उपयोग के लिये ही हमारे यहाँ उसे लेकर करता है। जगत् के सारे सम्बन्ध आत्मरूप को लेकर हैं। 'स्व' में मनुष्य का जो प्रेम है, उसी से वह टिका हुआ है। इसलिये 'स्व' का विरोध नहीं, बल्कि उसका अनुभव एवं संस्कार ही समाज के हितकी दृष्टि से वाञ्चछनीय है। सामाजिक कल्याण या परम पुरुषार्थ के लिये इस 'स्व' का संस्कार करके इसे उच्च मनोभूमिकाओं पर स्थापित करने की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिये क्षुद्र 'स्व' और महत् 'स्व' को एकत्र करना पड़ता है। क्षुद्र 'स्व' महत् 'स्व' का विरोधी नहीं, बीज रूप है। जैसे जरा से बीज में सम्पूर्ण वृक्ष समाया हुआ है, वैसे ही क्षुद्र (यानी व्यक्ति के) 'स्व' में महत् 'स्व' घनीभूत एवं अन्तर्निहित है। ज्यों-ज्यों 'स्व' का शोधन एवं संस्कार होता है, उसमें महत् 'स्व' की अनुभूति बढ़ती जाती है, आदमी स्वार्थ से ऊँचा उठता है और अन्त में यही क्षुद्र 'स्व' विराट् 'स्व' में बदल जाता है। तब प्राणिमात्र से अभिन्नता एवं परम ऐक्यकी अनुभूति होती है। इस प्रकार विश्व प्रेम की सिद्धि होती है। इस आध्यात्मिक भावना द्वारा समाज की विभिन्न श्रेणियों में सामंजस्य स्थापित किया गया था और व्यक्ति तथा समाज की तात्त्विक अभिन्नता-का अनुभव किया गया था।

विद्या, धन और शक्ति की अवज्ञा हमारे यहाँ नहीं कीं गयी। इनकी आवश्यकता औसत दर्जे के व्यक्ति, वर्ग या समाज को है; पर इनका उपयोग मनुष्य किस प्रकार करता है, इसे देखकर ही उसकी संस्कृति का अनुमान लगाया जाता है। रावण ब्राह्मण था, परम विद्वान् था, शक्तिमान् भी था। उसने विद्या

और शक्ति का दुरुपयोग किया, इसलिये राक्षस कहलाया। जब मनुष्य धन से पर-पीड़न करता है तो कोई भी उसे उच्च संस्कृति का नहीं कहता। आज संसार में विद्यी कमी नहीं, शक्ति की कमी नहीं, धनकी कमी नहीं; तब भी इनके द्वारा मानव-जाति और मानव-शक्ति यों का भयंकर विनाश हो रहा है। पश्चिम के बड़े-बड़े वैज्ञानिक अत्यन्त भयंकर आविष्कारों के द्वारा मानव जाति के भविष्य को खतरे में डाल रहे हैं। यह विद्या का व्यभिचार है। इसे संस्कृति नहीं कह सकते। भारतवर्ष इन साधनों पर साधुत्व का, आत्मबल का नियन्त्रण सिद्ध करता है कि हमारी संस्कृति न केवल श्रेष्ठ थी, बल्कि व्यावहारिक दृष्टि से भी उसने श्रेष्ठ उदाहरणों एवं प्रतीको को जन्म दिया था। विद्या, धन और शक्ति के उचित उपयोग के लिए ही हमारे यहाँ उसे आध्यात्मिक आधार पर प्रतिष्ठित किया गया था।

यह इसी आध्यात्मिक अधिष्ठान का परिणाम है कि मैक्समूलर के शब्दों में 'प्राचीन वंश विनष्ट हुए, परिवारों का ह्रास हुआ, नये साम्राज्यों की नींव पड़ी; किंतु इन आक्रमणों और हलचलों से हिंदुओं के आन्तरिक जीवन में परिवर्तन नहीं हुआ।' युग बीतते गये हैं, क्रान्तियाँ और खण्ड-क्रान्तियाँ हुई हैं, अनेक आयी हैं; किंतु भारतीय संस्कृतिकी मूलधारा आजतक वही है- आत्मशुद्धि, त्याग और तपके जीवन द्वारा सच्ची सामाजिक सभ्यताकी सिद्धि।

हमारे धर्म में, हमारी समाज-व्यवस्था में, हमारे शिक्षा-क्रम में, हमारे चिकित्सा शास्त्र में, हमारे साहित्य और हमारी कला में जीवन की इसी उदात्त कल्पना और संस्कृति की धारा है-अन्धकार से उठकर प्रकाश, असत्य से सत्य और मृत्यू से अमरत्व के स्रोत की ओर यात्रा करने की वृत्ति। जीवन की सार्थकता त्याग में, आत्मार्पण में, अपने को देने में है यही सन्देश हमारी संस्कृति का सन्देश है।

क्या इसका अर्थ निष्क्रियता है? क्या इसका अर्थ जीवन की प्रेरणाओं की उपेक्षा है? क्या इसका अर्थ अकर्मण्यता है! हमारे जीवन में आज निष्क्रियता और अकर्मण्यता आ गयी है। हम जीवन की महती प्रेरणाओं से दूर हो गये हैं। पर इसका कारण यह है कि हम आत्म-विस्मृत, बेसुध, अपनी संस्कृति के आदर्शों की ओर से आँखें मूँदे बैठे हैं। अन्यथा उत्तरोत्तर जीवन के शोध में आत्मार्पण, जीवन पर परम नियन्त्रण की स्थापना, मृत्यु पर विजय, स्वार्थ पर लोक-कल्याण के आदर्श की प्रतिष्ठा-यही तो हमारी संस्कृति है। पहले अपने को निर्मल करो, फिर निर्मल अन्त: करण को जगत् के हित में लगाओ-आत्मानुभव एवं आत्म-दर्शन में लगाओ, यही हमारी संस्कृति की अमर वाणी है। वही वाणी, जो शताब्दियों से मानवता के हृदय को पुकार रही है- 'सब सुखी हों, सब निरामय हों, सब श्रेय को देखें।'

जुगनू तभी तक चमकता है, जब तक उड़ता है। यही हाल मन का है।
जब हम थम जाते हैं तो अंधकार में पड़ जाते हैं।

लोग अक्सर कहते हैं- उसका मन बहुत बड़ा है, लेकिन किसी को कहते नहीं सुना कि यह मन बड़ा हुआ कैसे? दरअसल इसे समझने के लिए एथीमोलॉजी की शरण में जाना पड़ेगा। एथीमोलॉजी, वह विज्ञान है जो शब्दों की व्युत्पत्ति का इतिहास बांचता है। पुरानी अंग्रेजी में गेमाइंड का आशय था - मन, लेकिन गेमाइंड का मतलब विचार से नहीं था। इसका मतलब था- दोहराना या याद रखना। उस समय तक लेटिन का 'मेन्स' और संस्कृत का 'मन' भी कमोबेश यही अर्थ रखता था।

संस्कृति और वेद

(लेखक-श्रीरामलालजी पहाड़ा)

ऋग्वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ है और इसमें इस देश के निवासियों का नाम 'भारत' है। यथा-

य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम्।

विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्।।

(ऋ0 3 । 53 । 12)

इसका साधारण अर्थ-"आकाश, पृथ्वी दोनों के मध्य अन्तरिक्ष में स्थित इन्द्र की मैंने स्तुति की है। विश्वामित्र का किया हुआ स्तोत्र 'भारत जन की रक्षा करे या करता है।'' गीता में भी देश-सम्बन्ध से अर्जुन को सम्बोधित करते हुए अनेक बार 'भारत या भरतर्षभ' कहा हैं। यथा-

'व्यक्तमध्यानि भारत', 'पश्याश्चर्याणि भारत', 'जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ', 'ज्ञानी च भरतर्षभ', 'सत्वं भवति भारत', 'तन्निबध्नाति भारत', 'रजः कर्मणि भारत।'

यह महिमायुक्त नाम उसी देशको दिया गया था, जो सबका 'भरण' करता था। मानसकार महात्माजी भी कहते हैं- बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई।।

अनन्तर 'आर्यावर्त' नाम हुआ। यहाँ के निवासियों ने कृषि के काममें श्रेष्ठता प्राप्त की। 'ऋ' का अर्थ गति है और जो गतिशील, परमार्थकी ओर अग्रसर होता है, वह ऋषि है। ऋषिका अर्थ निर्मल-बुद्धिसम्पन्न जीवनोपयोगी मन्त्ररहस्य-द्रष्टा पुरुष है। यहाँ अनेक ऋषि हुए, इसलिये यह देश आर्यभूमि या आर्यावर्त कहलाया। बार-बार किसी काम या बातके होनेसे मन पर प्रभाव पड़ जाता है। यही प्रभाव संस्कार है, जो अमिट बन जाता है। इतना परिवर्तन होने पर भी यहाँ वालोंको 'भारत' या 'आर्य' कहलाने में गौरव प्रतीत होता है। जब देश की सीमा छोटी हुई, तब एक नदीको 'सिंधु' कहा। 'सीमाको धोये' वह सिन्धु है (सीमां धौतिया सा) इस कारण लाक्षणिक ढंगसे सिन्धुको समुद्र भी कहना आरम्भ हुआ। जो कुछ हो- इस नदीके सम्बन्ध से अपर जनों ने यहाँ-के निवासियों को सिंधु अर्थात् 'हिंदू' कहना आरम्भ किया। ऐसा परिवर्तन होता ही रहता है। इसे अपनी कसोटी से देखने पर अभिप्राय 'हीनताको दूर करने वाले' होता है (हीनतां दुनोति दूरीकरोति यः सः)। हमको अन्य जनोंकी दृष्टिसे या अर्थ (अन्य-भाषा-भाषियोंके कोष में दिये हुए) से क्या प्रयोजन! अस्तु।

यदि प्राचीन ऋषि प्रणीत संस्कारों को देखा जाय तो वे जीवन में आनेवाली हीनता को दूर करने के अमोघ उपाय हैं। इस देश में चलाये हुए व्रत, उत्सव, नित्य नैमित्तिक कार्य, मेले, लोक व्यवहार आदि सबका अन्तर ध्येय जीवन की हीनता को हटाकर मनुष्यों को आनन्दमय बनाना है। संस्कारों का ध्येय आत्मसूचना देकर जीवन को सुचारु ढाँचे-में ढालने का है। व्रतोंका लक्ष्य ऋतु अनुसार आहार-विहार करते हुए दुःखनाशक योगको प्राप्त करना है। ऋषियों ने वेदोंकी संस्कृति की रक्षाके हेतु अष्टाध्यायी 'रुद्र' का संकलन किया। वे समझने लग गये कि इतने विशाल वेदका अध्ययन-अध्यापन कठिन हो जायगा तथा लोक व्यवहार विकृति को पहुँच जायगा। 'रुद्र'का हेतु यह था कि लोकव्यवहारार्थ कम-से-कम इतने

वेद-ज्ञानका सिंचन लोगों के हृदयों में होता रहे। संस्कृति रक्षार्थ नित्य कर्म के नियम बनाये गये। सन्ध्या-तर्पण, वैश्व देव, संस्कार, व्रत आदिकी योजनाएँ की गयीं। लोगों को एकत्रितकर अपनी संस्कृतिको स्थिर रखने के लिये मेले तथा तथा बृहत् सम्मेलन (यथा कुम्भ आदिपर प्रयाग, नासिक, उज्जैनके मेले) किये गये। तीर्थोंका मुख्य ध्येय संस्कृतिका प्रचार करना था। लोग आकर पवित्राचार के कार्योंको देखकर अपने जीवन सुधारकी शिक्षा ग्रहण करें। आजकल ये स्थान प्रायः भ्रष्टाचार एवं भिक्षाचार के केन्द्र बन गये हैं। प्राचीन ऋषियों के आश्रम रहते थे, जहाँ सब उत्पादक परिश्रम करके जीवन व्यतीत करते थे। आ+श्रम=पूर्ण श्रम, जिससे उन्नति और कल्याण हो। इस तरह वे स्वावलम्बी जीवन की शिक्षा के केन्द्र थे।

ऋषियों की दूर दृष्टि के प्रमाण में चारों वेद संहिताओं के 'अथ और इति' की ऋचाओं का कुछ विचार जनता के मननार्थ दिया जाता है-

ऋग्वेद-ऊँ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्। (१ । १ । १)

'अग्नि' ध्वनिसे अनेक अर्थोकी सम्भावना होती है इनमें कुछ को लेकर विचार व्यक्त किया जाता है।

(१) भौतिक रूपमें अनेक कामोंमें लायी जाती है। इसके तीन स्थान मुख्य होने से गार्हपत्य, आहवनीय और दाक्षिणात्य-तीन रूप माने जाते हैं। गार्हपत्य जो घर में, आहवनीय जो यज्ञों या कला-कौशल के कार्योंमें, दाक्षिणात्य जो विश्लेषण या श्मशान में काम आती है। ऋषि भावना करता है कि मैं अग्निकी स्तुति करता हूँ, जो आवश्यक कार्यके सत्यफलको उत्पन्न करनेवाला, उत्तम कार्योंको संपादन करने-वाला तथा मूल्यवान् वस्तुओंको धारण करनेमें समर्थ है।

(२) दैविकरूपमें सूर्य और विद्युत् या स्वयं घर्षणसे होनेवाली है, यथा समुद्र में बडवानल और पृथ्वी के गर्भ में ज्वलनशील स्फोटक पदार्थ हैं। यह भी पूर्व से ही रक्खी है। और सामने प्रत्यक्ष भी है। ज्ञान बढ़ाने में सहायता करती है और रमणीय पदार्थको उत्पन्न करती है।

(३) आध्यात्मिक रूप में परमात्मा है, जो सब यज्ञोंका कर्ता-धर्ता है और रत्नरूप मोक्षको देनेवाला है।

(४) लौकिकरूप में पुत्र या मित्र है, जो जीवनके कार्योंको सँभालनेवाला और सम्पत्तिको धारण करनेवाला है तथा यशको फैलानेवाला है।

(५) सामाजिकरूपमें अग्रणी नेता है, जो संस्था या समाजके काया के करने में प्रधान पुरुष है और उत्तम ज्ञानको धारण कर समयपर तदनुकूल काम करनेवाला है।

(६) शारीरिक रूप में वीर्य तथा जठराग्नि है, जो भोजन का सार निकालकर उत्तम गुणों या बलोंको धारण करता और शरीर-यात्रामें सहायता करता है।

(७) मानसिक (मनोविज्ञान) रूप में विवेक है, जो जीवनके सारासारको निकालकर सदाचरण ध ारण करने या व्यवहार में लाने के लिये सहायक होता है।

(८) जीवशास्त्र में प्राण है, जो शरीर में जीवन रखता और सबसे उत्कृष्ट वस्तु श्वास आदिको

धारणकर चौतन्यको प्रकट किया करता है1

(९) अर्थशास्त्र में सम्पत्ति, भूमि और परिश्रम है, जो जीवनोपयोगी वस्तुओं को उत्पन्नकर उत्तम साम्यको धारणकर शान्ति स्थापित करते हैं।

(१०) कामशास्त्र में स्त्री या वधू है, जो कौटुम्बिक जीवनमें मुख्य कार्यभाग सम्पादनकर पुत्र या पुत्री- रत्नोंको धारणकर समाज की वृद्धि में मुख्य घटक है।

(११) धर्मशास्त्र में सदाचार है, जो जीवन का ध्येय रख उत्तम भावोंको धारण कर समाज में शान्ति लाता है।

(१२) वैद्यशास्त्रमें ओषधि है जो शरीर में सत्त्व, बल देकर उत्तम धातु की रक्षा करता और जीवन निर्वाहमें सहायक होता है

अब 'इति' को देखिये-

(१) संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।। (ऋ0 १ । १९१ । २)

जिसे देव-सुनागरिक पहले ही अच्छी तरह स्व-मर्यादा तथा तदनुकूल कर्तव्योंको जानकर उपासना करते हैं, समीप रहकर काम करते हैं, वैसे ही तुम सब समीप रहकर समान गति करो, समने बोलो अर्थात् उन्नति के लिये प्रयत्न करो रक्षा के लिये इतने संस्कारादि रक्खे गये हैं। यही साम्यवाद-और मन्तव्य प्रकट करो, भेदभाव मत रक्खो कि कोई कुछ कहे और कोई कुछ। इसलिये परस्पर समान ढंगसे सब मनोगत भावोंको जाननेका प्रयत्न करो। व्यक्तिगत विचारको सर्वोपरि बतलाकर लोगोंकी दुर्गति मत करो। सब काम अनुशासन में रहकर करो।

(२) समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि। (ऋ0 १ । १९१ । ३)

किसी भी काममें प्रवृत्त होने का एक-सा मान (Standard) रहे। इसी तरह मन्त्रणा करने का, निर्णय करने का एक-सा ढंग रहे। सबका चित्त एक ही ओर झुका रहे। प्रत्येक व्यक्ति यही विचार रक्खे कि मैं निर्णीत मन्त्रका अनुसरण करूँ और समाज के कार्यमें समान रीति से भाग लूँ। यज्ञ में सबके साथ हवि डालूँ-समाज के काममें यथाशक्ति सुअवसर पर स्वार्थत्याग करूँ या आवश्यक कार्य-भाग लूँ। वेदका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि चाहे जिसके साथ उठो या बैठो और भक्ष्याभक्ष्य-का विचार न करके खाओ-पीओ, और मर्यादा भ्रष्ट होकर कुछ भेद मत रक्खो। अपनी सीमामें रहकर एक-सा मान रखते हुए काम करो। विवेक से काम लो। विवेकभ्रष्ट मत होओ।

(३) समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।
(ऋ0 १० । १९१ । ४)

किसी बात को कूँतने का (कीमत स्थिर करने का) ढंग एक-सा रहे। इसी तरह सबके हृदयों में

एक-सी विचार धारा प्रवाहित हो। (यथा-गो-वध-निवारण के सम्बन्ध में सबके हृदयों में एक-से विचार रहें।) सबके मन एक ही बात पर जमें, और सबका साहित्य भी एक ही मानका हो। अर्थात् आचार, विचार, पठन-पाठन, वेषभूषा आदि जीवन के कार्यों का मान (Standard) एक-सा रहे। इस तरह साम्यभाव से ईर्ष्याका प्रसार नहीं होता। देश में सबका जीवन सुखी होता है।

ऋषियों ने इस वेद में महावाक्य (Life&motto) यह रक्खा है- 'सर्वे खल्विदं ब्रह्म', निश्चयपूर्वक यह सब ब्रह्म है। सबको समान जानकर सबके साथ मर्यादा पूर्वक समान व्यवहार करना ही सर्वोपरि ज्ञान है या संस्कृतिका उत्तम रूप है। इसकी रक्षा के लिये इतने संस्कारादि रक्खे गये हैं। यही साम्यवाद का सत्य स्वरूप है।

यजुर्वेद इषे स्वोर्जे त्वा, वायव स्थ, देवो वः सविता प्रापयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आन्यायध्वम्, अव्न्याः इन्द्राय भागं, प्रजावतीः अनमीवाऽअयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माऽघशंसः ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात्, बहीर्यजमानस्य पशून् पाहि। (यजु० १ । १)

(१) हे परमेश्वर! मैं तुम्हारी ब्रह्म-तत्त्व और विवेक के लिए प्रार्थना करता हूँ।

(२) मैं यथेष्ट वर्षा और अन्नके लिये प्रार्थना करता हूँ।

(३) सुप्रजा और अभ्युदयके लिये प्रार्थना करता हूँ।

(४) स्वत्वाधिकार और उत्कृष्ट सदाचार के लिये प्रार्थना करता हूँ। क्योंकि तुम सर्वत्र गमनशील हो, सबकी चिन्ता करते हो। सबको उत्पन्न करने वाले देव श्रेष्ठ कर्मों के लिये प्राप्त हों और प्रेरित करें। इन्द्रके हेतु यह भाग-इन्द्रियाँ, कृषि हेतु-गौएँ और सुख हेतु-ज्ञानमयी बातें हनन करने योग्य नहीं हैं। ईश्वर कृपा से गायें, स्त्रियाँ, बुद्धियाँ प्रजावती, रोग रहित और क्षयरोगसे रहित होतें; इन पर चोर और दुष्टजन अधि कार न करें। हे परमेश्वर! तुम्हारे पतित्व-पतित्व-स्वामित्व में प्रजा, गायें, बुद्धि-सब कुछ अचल रहें और यजमान-कर्तव्यशील मनुष्यकी इन्द्रियाँ, गायें और अन्य पशुओंकी रक्षा करो और संख्या बढ़ाओ। यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय उपनिषद् की गणना में आ गया है। अतएव इसके पहले के (39वें) अध्यायके अन्तमें इस प्रकार है-

तपसे स्वाहा, तप्यते स्वाहा, तप्यमानाय स्वाहा, तपताय स्वाहा, धर्माय स्वाहा। निष्कृत्यै स्वाहा, प्रायश्चित्यै स्वाहा, भेषजाय स्वाहा।। यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा, मृत्यवे स्वाहा, ब्रह्मणे स्वाहा, ब्रह्महत्यायै स्वाहा, विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा, द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा।।

(यजु० ३९ । १२-१३)

तप तपने वाले, तपे हुए, तप करते हुए, पसीना टपकाते हुए अर्थात् उचित और उत्पादक परिश्रम करने वाले मनुष्य धन्य हैं। उनकी सारी आवश्यकताओं की प्रभु कृपा से पूर्ति होती रहे। उचित पुरस्कार देनेवाले, प्रायश्चित्त करने-वाली ओषधियाँ भी धन्य हैं। इनका उचित उपयोग सत्कार किया जाय। नियन्त्रण कर अनुशासन रखने वाले, झगड़ोंका अन्त करनेवाले मृत्यु! तू भी धन्य है। ब्रह्म सारे समाज के लिये उचित त्याग किया जाय और समाज के घातक को उचित दण्ड दिया जाय। सब देवों की तृप्ति की जाय और

पृथ्वी और अन्तरिक्ष सुखदायक हों।

अथवा ४० वेंके अन्त में इस प्रकार है-

अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम।। हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुष: सोऽसावहम्। ऊँ खं ब्रह्म।। (यजु० ४० । १६-१७)

हे अग्नि! जानते हुए सुपथ में हमको ले चलो। देवको प्रिय सब प्रकार के धन-ऐश्वर्य हों (प्राप्त हों)। हम तुमको नमस्कार करते हैं, तुम्हारी स्तुति करते हैं। तुम (कृपा कर) कुटिल पाप को दूर हटाओ। सत्यका मुँह चमकीले पात्रसे ढका है। सत्यकी खोज करते समय आरम्भमें चमकीली बातें भ्रममें डाल देती हैं (संसार की चमक-दमक के लोभ में पड़कर या नाम-रूप की उपाधिमें अटककर वस्तु-तत्त्वको जानना कठिन हो जाता है)। आदित्य में जो पुरुष है, वही मैं हूँ। मैं अखण्ड पुरुष हूँ। इसलिये इसका महावाक्य 'तत्त्वमसि' है। वही (अखण्ड-पुरुष का बिम्ब) तू है। समाज तू ही है (समाज का ये सब रूपों में न्यूनाधिक प्रमाण से हैं। प्रतीक तू ही है) और तू ही समाज है। तू ही समाज (ब्रह्म) को झलकाता है। तुझ पर से ब्रह्म के भास (समाज की संस्कृति) का अनुमान हो जाता है। इससे समाजवाद का उत्तम स्वरूप ध्यान में आता है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति समाज की स्थिर संस्कृति का आदर करने वाला हो। वह अपने को समाज-संस्कृति का रक्षक माने।

सामवेद-अन आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि। स्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हित:। देवेभिर्मानुषे जने।। (साम० १ । १ । १-२)

हे अग्नि! स्तुति करने वाले और उचित हवि (आवश्यक सामग्री) देने वाले के घर आकर कुशासन (उचित स्थान) पर मुख्य आराध्याराधक होकर बैठिये। तुम मेरे यज्ञोंके सम्पादन करने वाले हो। मनुष्य-समाज में उत्तम गुणोंद्वारा सबका हित करते हो।

अन्त में इस प्रकार है-

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा: स्वस्ति न: पूषा विश्ववेदा:।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यो अरिष्टनेमि: स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।

(साम० २१ । १ । ९)

विशाल कीर्तिवाले इन्द्रदेव हमारा कल्याण करें, विश्व-ज्ञानी सबके पोषण करने वाले सूर्यदेव हमारा कल्याण करें। अकुण्ठित आयुधवाले विष्णु (विश्वकर्मा) हमारा कल्याण करें, वाणीके पति या देवोंके गुरु हमारा कल्याण करें।

इसका महावाक्य है- 'अयमात्मा ब्रह्म'-यह आत्मा, चेतन्य व्यक्ति ही ब्रह्म है। यही बह्मका (सभी समाज का) भास दे रहा है। यह भी समाज में साम्यवाद रखने का उत्तम ढंग है।

अथर्ववेद- ये त्रिषप्ता: परिचन्ति विश्वा रूपाणि विभ्रत:।

वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे।।

(अथर्व० १ । १ । १)

वाचस्पति (देवों के गुरु) मेरे शरीर में अब उनके बल रक्खें, जो सब तीन और सात या इक्कीस होकर (तीन गुण) और सात धातु-व्याहृतियाँ) या पाँच भूत, पाँच तन्मात्रा और दस अधिष्ठान इन्द्रियाँ और जीव सब रूपों को भरते हुए चारों ओर घेरकर स्थित हैं। सब रूपों में न्यूनाधिक प्रमाणसे है।

अन्तमें इस प्रकार है-

मधुमतीरोषधीर्थावि आपो मधुमन्नोऽभवत्वन्तरिक्षम्। क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम ।। पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसः पृथिव्या:। सहस्रं शंसा उत ये गविष्टौ सर्वां इत् ताँ उप याता पिबध्यै ।।

(अथर्व० ९ । १४३ । ८-९)

ओषधियाँ, द्यौ (आकाश), पानी (मेघ), अन्तरिक्ष (वातावरण), क्षेत्रपति क्रुद्ध न होते हुए हमारे लिये मधु-समान हों, हम उनका अनुसरण करते रहें। अश्विनी कुमारों के द्वारा यह पृथ्वी, वातावरण और आकाश का मण्डल ही भंडार बनाया गया है अर्थात् थलचर, व्योमचर जीवों के हेतु यह सुखदायक स्थान बनाया गया है। इस गोठान में सहस्रों यहाँ आकर पानी पीयें और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करें। सब इकट्ठे होकर उपभोग लें।

इसका महावाक्य 'सोऽहम्' है। मैं ही वह (ब्रह्मका बिम्ब) हूँ, मुझ में ब्रह्म (समाज) की युग-युगान्तरसे आयी हुई कृतियों का समावेश है। मैं उन सबको प्रसंगानुसार उद्भूत किया करता हूँ।

सु विचार

1. आप जितना अधिक परिश्रम करते हैं, उतना ही अधिक भाग्य आपके पक्ष में आता है।
2. सफलता हमेशा अच्छे विचारों से ही आता है।
3. जीवन उसी का मस्त है। जो स्वयं कार्य में व्यस्त है।
4. परेशान वही है। जो दूसरों की खुशियाँ से त्रस्त है।
5. अगर हारने से डर लगता है, तो जीतने की इच्छा न रखें।
6. जब आप कुछ नहीं कर सकते तो एक चीज जरूर कर सकते प्रयास।
7. अनुशासन और अभ्यास से ही आत्म विश्वास पैदा होता है।
8. बिना निराश हुए हार को सह लेना साहस की सबसे बड़ी परीक्षा है।?
9. आप खुद को जीतिए दुनियां अपने आप जीत लेगें।
10. हर दिन इस सोच के साथ उठे कि आज हम क्या-क्या नया कर सकते हैं।

प्रस्तुति-

मीरा झा

अन्नपूर्णा कुंज, मुसरीघरारी

विष्णु की चतुराई

● अमरनाथ शुक्ल

एक बार नारद भू-मंडल पर घूम रहे थे तो उन्हें वृकासुर नामक राक्षस मिला। नारद को देखते ही उसने कहा, 'देवर्षि! आप अच्छे अवसर पर आए। मैं आपसे एक सलाह लेना चाहता हूं। मैं तपस्या करके वरदानी होना चाहता हूं। बताइए, ब्रह्मा, विष्णु और महेश में कौन देवता ऐसा है, जो शीघ्र और थोड़ी तपस्या में प्रसन्न हो जाता है?''

नारद ने सोचा- यह राक्षस इस समय जैसा जीवन बिता रहा है, आगे भी ऐसे ही बिता सकता है, पर अपनी राक्षसी शक्ति बढ़ाने के लिए यह तीन देवों में से किसी एक की आराधना कर वरदानी होना चाहता है। वर पाने के बाद इसकी राक्षसी प्रवृत्ति और प्रबल हो जायेगी, फिर यह ब्राह्मणों, ऋषियों और देवों को अधिक सताया करेगा। नारद यह सब सोच तो रहे थे, पर वृकासुर के प्रश्न का उत्तर टालने का मतलब था अपने लिए संकट पैदा करना।

सोच-विचार करके उन्होंने कहा, 'वृकासुर, देखो, वैसे तो तुम तीनों देवों में से किसी की भी तपस्या कर अपना मनोरथ पूरा कर सकते हो। ब्रह्मा और विष्णु जल्दी प्रसन्न नहीं होते। उनके लिए बहुत वर्षों तक कठिन तपस्या करनी पड़ती है। हां भगवान् शंकर ही ऐसे भोले-भण्डारी और वरदानी हैं जो थोड़ी ही तपस्या से प्रसन्न हो जाते हैं और भक्त की किसी भी इच्छा को तत्काल बिना सोचे-विचारे वर दे देते हैं। अब तुम स्वयं सोच लो कि किसकी तपस्या करो।

नारद का ऐसा वचन सुनकर वृकासुर ने भगवान शंकर की आराधना का निश्चय किया और हिमालय के केदार क्षेत्र में जाकर तपस्या करने लगा। जप, तप, ध्यान-सब विधि से वह शिव की पूजा करने लगा। अन्न-जल भी छोड़ दिया, पर भगवान शिव ने प्रसन्न होकर दर्शन नहीं दिया। एक दिन उसने ऊबकर निश्चय किया कि अगर उसकी तपस्या सफल नहीं होती और भगवान शिव उसे दर्शन नहीं देते तो वह अपने प्राण दे देगा। उसकी तपस्या परमार्थ के लिए नहीं, बल्कि स्वार्थ के लिए थी। सकाम थी, इसीलिए भगवान शिव शीघ्र प्रसन्न नहीं हो रहे थे, लेकिन जब उसने ऐसा निश्चय किया और एक दिन सचमुच ही अपना बलिदान देने के लिए खड्ग उठाकर अपना शीश काटना चाहा तो एक भयंकर विस्फोट के साथ भगवान शंकर प्रकट होकर बोले, 'वत्स, तुम्हारी तपस्या पूर्ण हुई। बोलो, क्या चाहते हो? वर मांगो।'

साक्षात् भगवान शंकर को सामने खड़ा देखकर वृकासुर हाथ जोड़कर बोला, 'महाप्रभु! नारद ने कहा था कि तीन देवों में आप महादेव हैं। भक्त पर शीघ्र ही प्रसन्न होकर वर दे देते हैं। इसलिए मैंने आपकी प्रसन्नता के लिए तपस्या की, पर आप शीघ्र द्रवित नहीं हुए। जब मैंने आपके नाम पर अपने प्राणों का उत्सर्ग करने का संकल्प किया तब आप प्रसन्न होकर वर देने आए हैं। मैंने जैसी कठिन तपस्या की है, वैसा ही कठिन वर भी चाहता हूं। आप प्रसन्न हैं तो कृपा कर मुझे 'मारण-वर' दीजिए। मैं जिस किसी प्राणी के सिर पर हाथ रख दूं, उसी का प्राणान्त हो जाये।'

भगवान शंकर वृकासुर की यह राक्षसी मांग सुनकर हतप्रभ हो गए। अब क्या करें? देवता का वचन था, पूरा करना था, अन्यथा देव-मर्यादा नष्ट होती। बोले, 'वृकासुर! वरदान तो अनुचित मांग रहे हो, शायद इसीलिए कठिन तपस्या करनी पड़ी। में वरदान देता हूं। तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी।'

भगवान शिव का आशीर्वचन सुनते ही वृकासुर की राक्षसी वृत्ति जाग्रत हो गई। कहने लगा, 'प्रभो! आपका यह वर सत्य है या नहीं, इसकी परीक्षा लेना चाहता हूं। इसलिए पहले आपके ही सिर पर हाथ रखकर इसकी सत्यता देखना चाहता हूं। अगर यह सत्य हुआ तो फिर आप किसी अन्य को इसकी काट करने वाला वर देने के लिए जीवित ही नहीं रहेंगे।'

इस राक्षस की ऐसी बात सुनकर भगवान शंकर अपने ही जाल में फंस गए। अब क्या करें? यह राक्षस तो अब न कुछ सुनेगा, न मानेगा, ऐसा सोच कर भगवान शंकर उससे बचने के लिए भागे। शंकर को भागता देखकर उसकी शंका बढ़ गई और क्रोध भी भड़क उठा। पीछा करते हुए बोला, नारद की तरह आपने भी मुझसे छल किया है। अब परीक्षा से क्यों डर रहे हो? कहां तक भागोगे? भू-मण्डल छोड़कर देवलोक तक भी पीछा नहीं छोडूंगा।'

ऋषि, मुनि तथा समस्त देवगण असहाय होकर यह सब देखते रहे, पर उसके सामने कौन पड़े। अंत में भगवान शिव विष्णु लोक पहुंचे और विष्णु को अपनी विपदा सुनाई। विष्णु ने हंसकर कहा, "अपात्र, दुष्ट प्रकृति वालों को दान वरदान देने का यही परिणाम होता है। इसीलिए कहा गया है कि दान सुपात्र को देना चाहिए, जिससे उसका भला तो हो, पर अन्य किसी को कष्ट न हो। असुर राक्षस बुरी नीयत से ही तपस्या कर वरदान लेते हैं और फिर समाज को दुःख पहुंचाते हैं। ऐसा वर देकर आपके ही प्राण पर संकट आ गया है। देव-मर्यादा के लिए आपके वर की सत्यता तो सिद्ध करनी ही होगी। किसका सिर उसके आगे करूं?'

शिव ने कहा, 'नारायण मुझे कोसने से यह संकट दूर नहीं होगा, कुछ करिये, अन्यथा वह यहां भी पहुंच जायेगा।"

भगवान विष्णु ने योगमाया से अपना एक वृद्ध तेजस्वी ब्रह्मचारी का स्वरूप बनाया और उधर चल पड़े जिधर से वृकासुर आ रहा था। कुछ दूर जाने पर वृकासुर हांफता हुआ आता दिखा। ब्रह्मचारी ने कहा, 'राक्षसराज, कहां भागे जा रहे हैं? लगता है, आप बहुत थक गए हैं। शरीर को थोड़ा विश्राम दीजिए। शरीर के माध्यम से ही कार्य सिद्ध होते हैं। फिर भी मेरे योग्य कोई कार्य हो तो बताएं।'

थोड़े धैर्य की बात सुनकर वृकासुर ने शिव के वरदान तथा उसकी परीक्षा की बात बताई। सुनते ही ब्रह्मचारी हंसा, बोला, "तुम शिव के वर की परीक्षा लेना चाहते हो? जिसका अपना कोई घर-घाट नहीं, जो स्वयं भूत-प्रेतों के साथ घूमता रहता है, वह किसी को क्या वर देगा? उससे तो त्रैलोक्य का राज मांगते तो वह दे देता। उसके घर का क्या जाता। मुंह से ही तो कहना था। अब यही देखो न, तुम्हें झूठमूठ का वर दिया और परीक्षा के समय भाग खड़े हुए कि वर तो झूठा है, अब यह मुझे ही मारेगा।' तपस्या भी व्यर्थ गई और वर भी झूठा मिला।

ब्रह्मचारी की बात सुनकर वृकासुर का मनोबल टूट गया। कहने लगा, "मुझे तो नारद ने सलाह दी थी।' ब्रह्मचारी ने हंसकर कहा, "बड़े भोले हो तुम। नारद का विश्वास कर लिया। वह तो ऐसा घुमक्कड़ साधु है, जो सबको उल्टी सलाह देता रहता है। उसकी सलाह से कभी किसी का भला होता ही नहीं। जैसा स्वयं, वैसा देवता तुम्हें बताया। मेरी बात का विश्वास न हो तो तुम अपने सिर पर हाथ रखकर देख लो कि कैसे शिव ने तुम्हें झूठा वर देकर बहकाया है।'

वृकासुर घबरा गया। ब्रह्मचारी की बात पर उसे विश्वास हो गया कि शिव ने उसे झूठा वर दिया है। उसका विवेक नष्ट हो गया। इसी झोंक में उसने अपने सिर पर हाथ रख दिया। सिर पर हाथ रखते ही भयंकर अग्निपुंज प्रकट हुआ और वृकासुर भस्म हो गया।

बिना सोचे-विचारे अपात्र-कुपात्र को दान देना और पाने वाले का कृतघ्न होकर दाता को ही संकट में डाल देता है और ऐसा ही उसका परिणाम होता है। कृतघ्नता के उन्माद में विवेक नष्ट हो जाता है और अंत में अपनी ही मृत्यु का कारण बन जाता है।

❑❑❑

कानून और कानूनी सलाह

बात बहुत पुरानी है, जब एक बड़ा वैभवशाली और बुद्धिमान् राजा था। उसकी इच्छा हुई कि मैं अपनी प्रजा के लिए कुछ नियम बना दूँ।

उसने एक हजार भिन्न-भिन्न जातियों में से एक हजार विद्वान व्यक्ति चुनकर अपनी राजधानी में निमंत्रित किए और उनकी सलाह से नियम बनाने का कार्य सम्पादन हुआ।

लेकिन जब एक हजार कानूनी नियम लिखकर राजा के सामने रखे गए और जब उसने उन्हें पढ़ा, तो उसका हृदय रो पड़ा। उसे अनुमान भी न था कि उसके राज्य में हजार प्रकार के अपराध प्रचलित हैं ।

तब उसने अपने अहलकार को बुलाकर मुस्कराते हुए स्वयं कुछ कानूनी नियम लिखवा दिए, जो गिनती में केवल सात थे।

वे एक हजार विद्वान् क्रुद्ध होकर वहाँ से चल दिए और अपने सजातियों के पास अपने बनाए हुए कानूनों सहित लौट गए और प्रत्येक जाति अपने विद्वान् द्वारा निर्मित कानून के अनुसार चलने लगी।

फलस्वरूप आज भी हजारों कानून प्रचलित हैं। आज भी उस विस्तृत देश में हजारों बन्दीगृह हैं, जिनमें कानून का उल्लंघन करनेवाले हजारों स्त्री-पुरुष भरे पड़े हैं।

निस्सन्देह उस विस्तृत साम्राज्य के निवासी हैं तो उन्हीं एक हजार कानून निर्माताओं की सन्तान, जिनमें बुद्धिमान् अकेला राजा ही था।

❑❑❑